भीतर

पेज 18

चौथी दुनिया

दिल्ली 15 मार्च से 21 मार्च 2009

हिन्दी का पहला साप्ताहिक अखबार

राहुल का यह कैसा दोस्त है
पेज 6

शैतानी जिस्मों के बीच कांपती नन्ही रूहें
पेज 14

बजट है या तबाही का गजट ?
पेज 3

मानवता के खिलाफ हुए अब तक के सबसे नृशंस अपराध की यह तस्वीर एक झलक मात्र है. गज़ा की गलियों में गोलियों से हुई मौतों का ब्योरा
पेज 13

विशेष अंक

मूल्य 20 रुपये

चौदहवीं लोकसभा का
शोक गीत
जिसे सांसदों ने गाया

डा.मनीष कुमार

अब जबकि चौदहवीं लोकसभा अपना कार्यकाल पूरा कर चुकी है, तो यह सवाल पूछा जाना चाहिए कि चौदहवीं लोकसभा को इतिहास में किस तरह याद किया जाएगा? हालांकि यह पूछना ही अनर्थकारी हो जाएगा कि यह पिछली लोकसभाओं से कितनी अच्छी थी ? सही सवाल तो यह होगा कि क्या इसका नाम अब तक की सबसे घटिया लोकसभाओं में लिया जाएगा? वजहें तमाम हैं. जब से लोकसभा कार्यवाही का टीवी प्रसारण शुरू हुआ, तब से आज तक सांसदों के प्रति लोगों में गुस्सा बढ़ा है. उनके व्यवहार को देख कर आम लोग निराश हुए हैं और उन्हें अहसास हो चुका है कि इन नेताओं से कुछ भी उम्मीद करना बेकार है. हालांकि दोष तो हमारा भी है. हमने ही तो उन्हें चुन कर भेजा है. चौदहवीं लोकसभा में संसदीय इतिहास का सबसे ज्यादा हंगामा हुआ, रिकॉर्डतोड़ समय बर्बाद हुआ, जनता का पैसा नष्ट हुआ, बहस तो दूर कोई यादगार भाषण नहीं हुआ. पैसे लेकर सवाल पूछने के जुर्म में सांसदों को निष्कासित किया गया. संसद की बची-खुची इज्जत सांसदों ने सदन के वेल में पैसे उछाल कर उतार ली.

फिर सवाल यह है कि क्या चौदहवीं लोकसभा भारत के इतिहास की सबसे घटिया लोकसभा साबित हुई है? पिछली तीन लोकसभाओं में सांसदों का व्यवहार इस बात का सबूत है कि संसद का स्तर लगातार गिरता जा रहा है. हंगामे की वजह से लोकसभा का कीमती वक्त बर्बाद होना मानो प्रथा बन गई है. ग्यारहवीं लोकसभा (1996-1998) में पांच फीसदी वक्त बर्बाद हुआ था. बारहवीं लोकसभा(1998-1999) में सांसदों ने 11 फीसदी समय बेकार किया, तो तेरहवीं लोकसभा (1999-2004) के सांसदों ने इसे बढ़ाकर साढ़े 22 फीसदी कर दिया. टेलीविजन पर सारा देश इन सांसदों की निठल्ली करतूतों को देखता है, लेकिन हमारे सांसद पूरी बेशर्मी से हंगामा करते रहते हैं. चौदहवीं लोकसभा के माननीय सांसदों ने एक-तिहाई समय हंगामे में बर्बाद कर दिया. 1951 में लोकसभा की हरेक मिनट की कार्रवाई पर करीब सौ रुपए का खर्च आता था, जो आज बढ़कर 26 हजार रुपए हो चुका है. सांसदों को मेहनतकश जनता की गाढ़ी कमाई की भला क्या फिक्र, जिस पर ये ऐश करते हैं. माल-ए-मुफ्त, दिल-ए-बेरहम.

.सवाल पूछा जाना चाहिए कि चौदहवीं लोकसभा को इतिहास में किस तरह याद किया जाएगा?
.हालांकि यह पूछना ही अनर्थकारी हो जाएगा कि यह पिछली लोकसभाओं से कितनी अच्छी थी ?
.सही सवाल तो यह होगा कि क्या इसका नाम अब तक की सबसे घटिया लोकसभाओं में लिया जाएगा?

चौदहवीं लोकसभा की सबसे शर्मनाक घटना वह स्टिंग ऑपरेशन रही, जिसमें सांसदों को पैसे लेते कैमरे पर पकड़ा गया. टेलीविजन के परदे पर देश की जनता ने अपने चुने हुए सांसदों को सवाल पूछने के लिए रुपए लेते देखा. लोकसभा की गरिमा का सौदा करने की इससे पहले इतिहास में सिर्फ एक घटना 1951 की है, जब एच जी मुद्गल ने बॉम्बे बुलियन ट्रेडर से संसद में काम कराने के पैसे लिए थे. वह घटना अपवाद थी, लेकिन अब तो यह आम बात हो गई है. गुजरात के दाहोद से भाजपा सांसद बाबूभाई कटारा को कबूतरबाजी के जुर्म में भी इसी लोकसभा से निष्कासित किया गया. जनता की सेवा तो छोड़ दीजिए, वह पैसे लेकर लोगों को विदेश भेजने के पुण्यकर्म में लगे थे.

चौदहवीं लोकसभा के शुरुआती दिनों में ही अगले पांच साल के घटनाक्रम के संकेत मिलने शुरु हो गए थे. लोकसभा के पहले दो सत्रों में दागी मंत्रियों का मामला गरमाया रहा.

मंत्रिमंडल में ऐसे कई थे, जिन पर आपराधिक मामले चल रहे थे. चौदहवीं लोकसभा पर एक बदनुमा दाग तब लगा, जब एक सदस्य को हत्या के आरोप में सजा मिल गई. झारखंड मुक्ति मोर्चा के अध्यक्ष शिबू सोरेन उर्फ गुरुजी कैबिनेट मंत्री की कुर्सी से सीधे जेल पहुंच गए, हालांकि गिरफ्तारी से बचने के लिए वह अंतर्ध्यान हो गए. उनके गायब हो जाने का मामला लोकसभा में छाया रहा जिसकी वजह से लोकसभा की कार्यवाही सही ढंग से नहीं चल सकी. इसके अलावा, बिहार के दो सांसद मोहम्मद शहाबुद्दीन और राजेश रंजन उर्फ पप्पू यादव तथा इलाहाबाद के सांसद अतीक अहमद भी अपने कार्यकाल के दौरान ज्यादातर समय जेल में ही बने रहे. वैसे भी संसद में इन्हें अच्छी नींद नहीं आती.

इस दौरान देश ने यह भी देखा कि किस तरह विश्वास प्रस्ताव के दौरान सरकार को बचाने के लिए ये अपराधी सांसद जेल से अचानक निकल कर लोकसभा में वोट डालने प्रकट हो गए. भारतीय राजनीति में ऐसे नजारे अब तो शर्मनाक भी नहीं लगते. शायद हमें शर्मिंदा होने की आदत पड़ चुकी है. चौदहवीं लोकसभा में एक विचित्र घटना भी हुई. एक सदस्य पर अभारतीय नागरिक होने का आरोप लगा. भाजपा ने असम से कांग्रेस के सांसद मणिकुमार सुब्बा पर नेपाली नागरिक होने का आरोप लगाया, हालांकि अध्यक्ष ने इस मामले को यह कह कर दबा दिया कि सांसदों की नागरिकता सिद्ध करने का हक सदन के पास नहीं है. क्या इसका अर्थ यह लगाया जाए कि देश में कोई ऐसी एजेंसी है जो सांसद बनने से पहले नागरिकता को प्रमाणित करती है. यदि ऐसा है, तो हम इसके बारे में जरूर जानना चाहेंगे.

संसद का सबसे अहम काम है कानून बनाना. देश की जनता सांसदों को इसलिए चुनती है ताकि वे संसद में जाकर कानून बनाएं, सरकारी कामकाज पर सवाल उठाएं और सरकार की जिम्मेदारी तय करें. चौदहवीं लोकसभा को इस जिम्मेदारी के बारे में पता ही नहीं था. चौदहवीं लोकसभा ने ज्यादा समय उन विषयों को दिया, जिनका कानून बनाने या उनके संशोधन से कोई लेना-देना नहीं है. लोकसभा का सिर्फ बीस फीसदी वक्त कानून बनाने में काम आया. सांसदों ने इससे भी कम समय सवाल पूछने में लगाया.

शेष पृष्ठ 2 पर

पांच साल देश की सर्वोच्च पंचायत किस तरीके से काम करती रही, इसकी झलक सभापति के उस बयान से साफ हो जाती है जो उन्होंने चौदहवीं लोकसभा के आखिरी दिन 26 फरवरी 2009 को दिए. सोमनाथ चटर्जी ने कहा कि आपसी घमासान की राजनीति ने संसद के 423 घंटे बर्बाद कर डाले. आधे घंटे तक चले चौदहवीं लोकसभा के अपने आखिरी अभिभाषण में वह यह कहे बगैर नहीं रह सके कि संसद ने लोगों का विश्वास तोड़ा है. इससे पहले 19 और 20 फरवरी को सदन में ही खड़े होकर उन्होंने सभी सांसदों को शाप दिया था कि भगवान करें कि आप लोग चुनाव हार जाएं, लेकिन अगले ही दिन उन्होंने माफी मांगते हुए कहा कि जो कुछ बोला था वह गुस्से में बोला था, आप सब चुनाव जीतकर आएं, अगर जनता आपको वोट दे तो. सोमनाथ चटर्जी ने पहले भी कई मौकों पर अपना गुस्सा दिखाया और कई मौको पर तो सांसदों को डराया धमकाया भी. पांच दिन पहले ही वह कह चुके थे कि पिछले पांच साल में आपने इस मंच का सत्यानाश तो कर ही डाला. आइए, आज हम 14वीं लोकसभा में संसद को दफना ही डालते हैं... मुझे समझ में नहीं आ रहा है कि इस संसद का औचित्य क्या है, देश में चुनाव क्यों होते हैं?

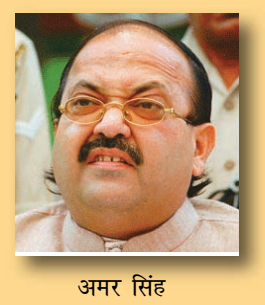

अमर सिंह

सोमनाथ चटर्जी

प्रणव मुखर्जी

किसानों की बदहाली बयान करती वंदना शिवा की रिपोर्ट पेज न. 5 पर

न्यूज पेपर एजेंटों के लिए
चौथी दुनिया
(साप्ताहिक समाचार पत्र)
की एजेंसी हेतु संपर्क करें, अंकुश पब्लिकेशन प्राइवेट लिमिटेड, चौधरी बिल्डिंग, के-2, दूसरी मंजिल, मिडिल सर्किल, कनॉट प्लेस, नई दिल्ली-110001
फोन: 011-47149999 फैक्स: 011-47149906
मोबाइल-9811076636,9910035462

चौथी दुनिया
का मतलब

चौथी दुनिया को बंद हुए 16 साल हो गए. जब हमने इसे फिर से प्रकाशित करने का फैसला किया, तो हमारे सामने वही सवाल खड़े थे जो आज से 23 साल पहले थे. ये सवाल अपनी जगह से हिले नहीं हैं. हां, विकास तो हुआ है. टीवी और इंटरनेट गांव-गांव में पहुंच गए हैं. समाज की समस्याएं वही हैं. राजनीति का रंग वही है. वही शोषक हैं. वही शोषित हैं. हम उसी मोड़ पर खड़े हैं जहां आज से 23 साल पहले खड़े थे. समाज में मौजूद विरोधाभास वही हैं. समय तो नहीं बदला है. हां, कैलेंडर की तारीख बदल गई है, चेहरे बदल गए हैं. चौथी दुनिया नहीं बदली है. चौथी दुनिया का मतलब क्या है, यह बताने के लिए हम आपके लिए उस लेख को फिर से प्रस्तुत करते हैं जिसे हमने 14 दिसंबर 1986 को छापा था.

किसी भी नए अखबार को निकालने के लिए एक नाम की जरूरत होती है. नाम दिए जाते हैं और उस नाम को लेकर सवाल भी खड़े होते हैं. अक्सर होता है कि पहले कोई भी नाम दे दिया जाता है, फिर इसका औचित्य सिद्ध करने के लिए तर्कों की कलाबाजियां खाई जाती हैं. हमारे साथ ऐसा नहीं है.

हमने अपने अखबार का नामकरण यों ही नहीं कर दिया है और ना ही अब इस नामकरण का औचित्य सिद्ध करने के लिए यह संपादकीय लिख रहे हैं. आने वाले समय में अखबार अपना नाम खुद ही परिभाषित कर देगा. फिर भी, हम चाहते हैं कि अखबार का नाम चौथी दुनिया रखने के पीछे हमारे मन में जो बातें हैं, वे आप तक पहुंचें.

चौथी दुनिया का पहला अंक

हम मानते हैं कि अपने जन्म से लेकर आज तक समाज का जो बंटवारा हुआ है, उसे हमेशा सत्ता, साहूकार और सिपाही ने परिभाषित किया है. आदिम समाज से चलकर कबीलाई, सामंती, पूंजीवादी और समाजवादी व्यवस्था में पहुंचे. इस मौजूदा समय तक विभिन्न अर्थव्यवस्थाओं को परिभाषित करने में जनता की कोई हिस्सेदारी नहीं रही है. इसका सिर्फ इस्तेमाल हुआ है.

यही वजह है कि चाहे रेगन-गोर्बाचौव की पहली दुनिया हो या पश्चिम के विकसित औद्योगिक देशों के साहब-बहादुरों की दूसरी दुनिया या फिर राजीव गांधी, जयवर्द्धने, जिया-उल-हक, इरशाद आदि की तीसरी दुनिया. इनमें कहीं भी वह आदमी शामिल नहीं है, जो समाज का निर्माता तो है, नियंता नहीं है. उसके पास सिर्फ मेहनत है, आवाज़ नहीं, जिसका कोई मुल्क नहीं है. लेकिन सत्ता ने बेहद चालाकी से भूगोल की सीमा में कैद कर दिया है. इन तीनों दुनिया का अर्थ आज वहां की जनता के बजाय वहां की सरकारों में निहित हो गया है. अपने अखबार का नाम चौथी दुनिया रखने के पीछे हमारी ईमानदार मंशा यह है कि इन तीनों दुनिया की सत्ता द्वारा जिन लोगों को जीवन के हाशिए पर धकेल दिया गया है, यह अखबार उनकी आशा-आकांक्षा, सुख-दुख, और उनके अपने संघर्ष का मंच बने. तीन दुनियाओं का मौजूदा नकली बंटवारा हमें इसलिए नामंजूर है क्योंकि इन दुनियाओं के सभी देशों की आबादी का एक बड़ा हिस्सा आज भी अपनी आर्थिक इयत्ता, मर्यादा और गरिमा के लिए संघर्षशील है. संस्कृति के तल पर, जात या पात के आधार पर पैदा किए गए अल्पसंख्यक, औरत, बूढ़े, जवान और बच्चे अपनी ही सरजमीन पर हाथ-पांव गंवा बैठे हैं. रोजमर्रा की जरूरतों के लिए मर-खप रहे हैं. क्या दीन दुनियाओं के भीतर सांस लेती चौथी दुनिया की शक्ल ऐसी ही नहीं है. यही लोग हमारी चौथी दुनिया के नायक हैं. हम दुनिया के एक और नकली बंटवारे के हिमायती नहीं हैं, न ही तीन दुनियाओं के समांतर हम कोई नई दुनिया खड़ी करना चाहते हैं. हम तो उन तमाम वंचित और सताए जा रहे लोगों की आवाज़ बनने के आकांक्षी हैं, जो अपने-अपने मुल्कों में कहीं पीछे छूट गए हैं. इन छूटे हुए लोगों का ही मंच है चौथी दुनिया. हमारी कोशिश रहेगी कि अपने हक और मर्यादा के लिए लड़ता हुआ आदमी इस अखबार में अपनी सच्ची तस्वीर देख सके और इसे अपने दुख-दर्द का भरोसेमंद साथी समझ सके किसी भी सही अखबार का इससे बड़ा मतलब और होता भी नहीं है.

संपादक

रजिता की गरीबी में डूब गई सरकारी बेशर्मी

अपने बेटे को बेचने का दर्द क्या होता है, यह ऊंची कुर्सी पर बैठे किसी अधिकारी को क्या पता. आंध्र प्रदेश के खम्मम जिले में एक मां ने अपने कलेजे पर पत्थर रख कर अपने बेटे को बेच दिया. उस अभागन का नाम रजिता है जिस पर गरीबी का अभिशाप है. इंसानियत को शर्मसार करने वाली इस घटना के लिए सरकार भी जिम्मेदार है. अगर अधिकारियों ने अपना काम सही-सही किया होता, तो एक मां को बेटा मिल जाता. उसकी लाज रह जाती. कोख का ईमान बच गया होता.

आंध्र प्रदेश का खम्मम अचानक खबरों में आ गया. 23 फरवरी को रजिता ने खम्मम के सरकारी अस्पताल में बेटे को जन्म दिया. वह बहुत खुश थी. लेकिन उसकी खुशी एक दिन भी नहीं टिकी, जब अस्पताल ने प्रसव के लिए 2200 रुपये जमा करने को कहा. रजिता दलित है. बेहद गरीब है. उसके पास इतने पैसे नहीं थे कि वह अस्पताल में दे सके और अपने बेटे को अपने साथ ले जा सके. गरीबी ने एक मां को बेबस कर दिया. रजिता ने मजबूरन अपने कलेजे के टुकड़े को सिर्फ 6000 रुपए में बेच डाला. लेकिन जिला प्रशासन ने उसके साथ जो व्यवहार किया, वह चौंकाने वाला है. कानून का हवाला देकर एक बेबस मां को मुजरिम करार दिया. उस पर यह इल्जाम लगा दिया कि उसने किसी दूसरे मर्द से शादी रचाने के लिए बच्चे को बेच दिया. उस मानवीय पहलू पर गौर तक नहीं किया कि रजिता का पति किसी दूसरी औरत के साथ गायब है. उसे मंझधार में छोड़ कर चला गया है. प्रशासन की इस संवेदनहीता की वजह से रजिता का जीवन बर्बाद हो सकता है. उसे जेल हो सकती है.

भारत में गरीबों की स्थिति क्या है, यह शायद दिल्ली में बैठे लोगों को पता नहीं है. हकीकत यह है कि कई इलाकों में हालात ऐसे बन चुके हैं कि घर में बच्चे आने की खुशी गम में बदल जाती है. ऐसा लगता है मानो गरीबों से बच्चे पैदा करने का भी अधिकार छीन लिया गया है. इससे पहले भी 400 और 600 रुपए तक में नवजात को बेचने की खबरें आई हैं. ऐसी ही परिस्थितियों की शिकार रजिता है. वह गरीबी रेखा से नीचे है. जिस अस्पताल में उसने अपने बेटे को जन्म दिया, वह सरकारी है. गरीब माताओं के लिए सरकार की तमाम घोषणाएं हैं. सरकारी फाइलों और कागजों पर मजबूत योजनाएं हैं. जब देश में रजिता जैसी महिलाएं पैसे की वजह से अपने बेटे को बेचने को मजबूर हैं, तब इन योजनाओं और बड़ी-बड़ी घोषणाओं का कोई मतलब नहीं है. क्या इस देश में गरीबी रेखा से नीचे रह रहे लोगों के लिए बच्चे पैदा करने में आर्थिक सहयोग प्राप्त करने की कोई योजना है. यदि है, तो रजिता के मामले में यह योजना क्या स्थगित कर दी गई थी. किसी ने नहीं पूछा कि इस देश के सरकारी अस्पताल क्या कर रहे हैं.

रजिता दलित है. बेहद गरीब है. उसके पास इतने पैसे नहीं थे कि वह अस्पताल को दे सके और अपने बेटे को अपने साथ ले जा सके. गरीबी ने एक मां को बेबस कर दिया. रजिता ने मजबूरन अपने कलेजे के टुकड़े को सिर्फ 6000 रुपए में बेच डाला, लेकिन जिला प्रशासन ने उसके साथ जो व्यवहार किया, वह चौंकाने वाला है. कानून का हवाला देकर एक बेबस मां को मुजरिम करार दिया गया.

खम्मम की इस घटना का एक और पहलू है. यह केंद्रीय महिला और कल्याण मंत्री रेणुका चौधरी का क्षेत्र है. कर्नाटक में जब पब और डिस्को में जाने वाली लड़कियों पर हमले हुए, तो अपने चिरपरिचित अंदाज में इस हमले के खिलाफ रेणुका ने बढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया. सुर्खियां बटोरीं. उन्होंने बहुत अच्छा काम किया. लेकिन रजिता के मामले में रेणुका चौधरी का इस मसले पर अब तक कोई बयान नहीं आया है. भारत में गरीब होने के कई घाटे हैं. उनकी आवाज़ कोई नहीं सुनता. रजिता शायद पब नहीं जा सकती, इसलिए उसकी आवाज़ किसी को सुनाई नहीं देती. उसका दर्द कोई समझ नहीं पाता. बहरहाल, रजिता को बच्चा तो मिल गया है लेकिन प्रशासन ने उसे दोषी बना दिया है. जिला प्रशासन ने बच्चे को बेचने और खरीदने वाले समेत रिश्वत लेने वाले डॉक्टरों पर भी आपराधिक मुकदमा दायर कर दिया है. रजिता को दस साल की कैद हो सकती है.

इस देश में पिछले करीब डेढ़ दशक से एक योजना चल रही है जिसका नाम है राष्ट्रीय मातृत्व लाभ योजना. यह योजना पहले ग्रामीण विकास मंत्रालय के पास हुआ करती थी. आजकल स्वास्थ्य मंत्रालय इसे देख रहा है. इसका नाम भी बदल कर जननी सुरक्षा योजना रख दिया गया है. रजिता ने सिजेरियन के माध्यम से बच्चे को जन्म दिया था. इस योजना में प्रावधान है कि गरीबी रेखा से नीचे रह रही महिलाओं को गर्भावस्था में बच्चे को जन्म देने से आठ से 12 सप्ताह पहले 500 रुपए की आर्थिक मदद दी जाएगी. इसके अलावा, सिजेरियन में अतिरिक्त 1500 रुपए की मदद का भी कानून है. कुल मिला कर बनते हैं 2000 रुपए. डॉक्टरों ने 2200 रुपए की मांग की थी. अगर सरकार ने रजिता की मदद की होती, तो सवाल सिर्फ 200 रुपए का रह जाता. क्या रजिता को पैसे मिले थे. जाहिर है, नहीं. जिला प्रशासन ने उन अधिकारियों पर कार्रवाई क्यों नहीं की जिन पर इन योजनाओं को लागू करने की जिम्मेदारी थी. यह किस तरह का कानून है कि जो गैर-जिम्मेदार अधिकारियों की करतूत पर तो पर्दा डालता है, लेकिन एक बेबस मां की जिंदगी बर्बाद कर देता है.

हमारे देश में सरकारी कामकाज का मकड़जाल ऐसा है कि हम रेणुका चौधरी से यह सवाल भी नहीं पूछ सकते कि रजिता के साथ ऐसा क्यों हुआ, क्योंकि यह योजना उनके मंत्रालय के तहत नहीं आती. प्रशासन के पास इस महिला को योजना का लाभ न देने के अपने तर्क हो सकते हैं. हां, प्रशासन काफी गर्व से दावा कर रहा है कि उसने तीनों पक्षों पर मुकदमा कर दिया है. क्या आपराधिक मुकदमों से गरीबी को मात दी जा सकती है. क्या सरकार यह बताना जरूरी समझती है कि गरीबों के लिए उसके भेजे पैसों का क्या हुआ. ज़ाहिर है, बच्चा बेचे जाने की घटना सरकार के लिए मायने नहीं रखती. हमारा सरकारी तंत्र न बुरा देखता है, न सुनता है और न कहता है.

चौथी दुनिया ब्यूरो

पृष्ठ 1 का शेष भाग

चौदहवीं लोकसभा का शोक गीत जिसे सांसदों ने गाया

14 वीं लोकसभा के आरोपी सांसद

भाजपा- 29
कांग्रेस- 24
सीपीएम- 7
बीएसपी- 7
एनसीपी- 5
सीपीआई- 2
समाजवादी पार्टी- 11
राष्ट्रीय जनता दल- 8

आपराधिक रिकॉर्ड वाले उम्मीदवार

भाजपा - 61
कांग्रेस- 55
सीपीएम- 13
बीएसपी- 48
एनसीपी- 9
सीपीआई - 7
समाजवादी पार्टी- 36
राष्ट्रीय जनता दल- 13

स्रोत: नेशनल सोशल वॉच कोलीशन द्वारा तैयार सिटिजन्स रिपोर्ट ऑन गवर्नेंस एंड डेवलपमेंट, 2006

लगता है कि उनकी सारी शंकाएं अब हल हो गई हैं. हैरानी की बात यह है कि लोकसभा में लाए गए सभी कानूनों में से 40 फीसदी कानून बनाने में एक घंटे से भी कम वक्त दिया गया, इन पर बहस की तो बात ही छोड़ दें. पिछले सत्र में तो हद ही हो गई जब 17 मिनट के भीतर आठ कानून बना दिए गए. और विडंबना देखिए, कि जिस समझौते से देश की संप्रभुता के बिकने और गिरवी रखने का मामला जुड़ा था, उस बारे में सरकार का कहना था कि इसे संसद की मंजूरी की जरूरत ही नहीं. भारत-अमेरिका परमाणु सौदा ऐसा खतरनाक समझौता था जिस पर तमाम पार्टियां बयानबाजी तो करती रहीं, लेकिन वक्त आने पर अपने ही सांसदों को न बिकने से बचा सकीं और न उन्हें सही रास्ता दिखा सकीं.

चौदहवीं लोकसभा के पूरे कार्यकाल में कानूनों में संशोधन के लिए ज्यादा कुछ नहीं हुआ. 1993 से 2007 के बीच जितने विधेयक संशोधन के लिए लाए जाने थे, उनमें से चौदहवीं लोकसभा में सिर्फ तीन फीसदी विधेयकों पर ही चर्चा हुई. लोकसभा में 533 विधेयक आज की तारीख में संशोधन के लिए लंबित हैं. कई विधेयक तो ऐसे हैं जिन पर तुरंत कार्रवाई की जरूरत थी, लेकिन सांसदों के हंगामे और आपसी झगड़े ने लोकसभा की कार्यवाही का रुख ही मोड़ दिया. इसके अलावा, प्राइवेट मेम्बर बिल को पूरे पांच साल तक नजरअंदाज किया जाता रहा. उस पर लगभग ना के बराबर बहस हुई है.

1956 में लोकसभा की कार्यवाही 151 दिनों तक चली थी. सत्तर और अस्सी के दशकों में यह घट कर 100 दिनों की हो गई. 1976 में 98 दिनों और 1985 में 106 दिनों तक लोकसभा का काम हुआ. 1999 में लोकसभा ने फास्ट ट्रैक कोर्ट को भी मात दे दी और साल भर का काम सिर्फ 51 दिनों में निपटा लिया, हालांकि चौदहवीं लोकसभा में पिछले सारे रिकॉर्ड टूट गए. इस बार सिर्फ 32 दिनों में साल भर का काम निपटाया गया. इसके अलावा, उन विधेयकों की सूची काफी लंबी है जिन पर ना तो बहस हुई, ना सवाल हुए, ना विरोध, ना ही कोई चर्चा. सभी काफी संतुष्ट दिखे. एक के बाद एक बिल आते गए और धृतराष्ट्र सभा की तरह लोकसभा के सांसद अपनी हामी भरते चले गए. ये विधेयक थे- पोस्ट ग्रेजुएट इंस्टीट्यूट ऑफ मेडिकल एजुकेशन, एमेंडमेंट्स टू द प्रिवेंशन ऑफ करप्शन एक्ट, एग्रीकल्चर एंड प्रोसेस्ड फुड एक्सपोर्ट्स डेवलपमेंट अथॉरिटी एमेंडमेंट, कंपनसेटरी अफॉरेस्टेशन एक्ट, साउथ एशियन यूनिवर्सिटी बिल, कोड ऑफ क्रिमिनल प्रोसीजर एमेंडमेंट बिल वगैरह-वगैरह. इसके बाद एक अन्य विधेयक आया जो सुप्रीम कोर्ट और हाई कोर्ट के जजों की तनख्वाह और सेवा से जुड़ा था. अफसोस, इसे पेश करने के लिए कानून मंत्री हंसराज भारद्वाज सदन में मौजूद नहीं थे, नहीं तो यह विधेयक भी बिना किसी गिले-शिकवे के पारित हो गया होता. जिस तरीके से कई विधेयकों को लोकसभा में पारित किया गया, उससे तो यही लगता है कि या तो ये मुद्दे हमारे सांसदों के लिए महत्वपूर्ण नहीं थे या सांसदों के पास इन विषयों पर बहस करने का वक्त ही नहीं था.

चौदहवीं लोकसभा में एक और दिलचस्प चीज दिखी. जब भी कोई विवाद खड़ा हुआ, तब सांसद अपनी सीटों पर बैठे दिखे. लेकिन लोकसभा में जब भी कानून और उससे जुडे मुद्दों की बात हुई, तो लोकसभा मे शर्मनाक नजारा दिखा. बहस के दौरान सीटें खाली दिखीं. एक बार तो विपक्ष के नेता लालकृष्ण आडवाणी बोल रहे थे, लेकिन उन्हें सुनने के लिए लोकसभा में सिर्फ 10 से 15 सांसद ही मौजूद थे. शायद वह बोल ही रहे थे, संबोधित नहीं कर रहे थे. चौदहवीं लोकसभा के आखिरी सत्र में अंतरिम बजट पर जब आडवाणी बोलने के लिए खड़े हुए, तो पूरे सदन में केवल 25 सांसद थे.

आइए अब भाषणों के स्तर की बात करें. आजादी से लेकर अब तक लोकसभा वह मंच रहा है जिसने नए नेता देश को दिए हैं. लोकसभा के पटल पर दिए गए भाषण इतिहास में अपनी जगह बनाते हैं. अफसोस की बात यह रही कि चौदहवीं लोकसभा के दौरान पूरे पांच साल में एक बार भी ऐसा मौका नहीं आया जब किसी सांसद ने अपनी बातों से पूरे देश को प्रभावित किया हो. ऐसा एक भी भाषण किसी नेता ने नहीं दिया जिसे लोग याद रख सकें. वाद-विवाद और भाषणों का सिलसिला तो चला, लेकिन न सत्ता पक्ष और ना ही विपक्ष से किसी ने यादगार भाषण दिया. पिछले सत्र में एक मौका आया जब राष्ट्रीय सुरक्षा कानून पर लोकसभा में बहस चल रही थी. सांसदों ने यह मौका भी गंवा दिया. ऐसा लगता है कि हमारे नेता अब राजनीति के मर्म को, कि मूंदहु आंख कतहुं कछु नाहीं आत्मसात कर चुके हैं और शब्दों में अपना जीवन व्यर्थ नहीं करना चाहते.

ऐसा नहीं है कि उनके मुंह से शब्द ही न निकले हों, लेकिन हिंदी के चर्चित कवि प्रभाकर मांचवे ने कहा था न, कि- मुंह, मुंह नहीं अजायबघर है जहां जिंदा, मुर्दा, सड़े-गले सारे भाव रहते हैं. इसी को चरितार्थ करते हुए सांसदों ने कई बार ऐसे शर्मनाक शब्दों का इस्तेमाल किया जिन्हें यहां पहले कभी नहीं सुना गया था. नेताओं ने उन विषयों को उठाया जिन्हें लोकसभा में लाने की जरूरत ही नहीं थी. जिन विषयों पर चौदहवीं लोकसभा में ज्यादातर बहस हुई, सरकार से जवाब-तलब किया गया, वे मसले ज्यादातर स्थानीय थे.

चौदहवीं लोकसभा में 543 सांसदों में 120 पर आपराधिक मामले चल रहे हैं यानी 22 फीसदी से ज्यादा ऐसे सांसदों को चुना गया, जो लोकसभा के लायक नहीं थे. इस सूची में शामिल लोग हर बड़ी पार्टी से आते हैं. भाजपा इसमें सबसे आगे है जिसके 29 सांसदों पर आपराधिक मामले दर्ज हैं.

लोकसभा के सांसदों के खिलाफ कुल 333 आपराधिक मामले दर्ज हैं. कुछ सदस्यों पर एक से अधिक मामले हैं. इन सांसदों पर हत्या, हत्या के प्रयास, बलात्कार, डकैती, लूट, चोरी, फिरौती, अपहरण और खतरनाक हथियार रखने के आरोप हैं. मामलों की सूची में समाजवादी पार्टी सबसे आगे है. यहां अपराध का समाजीकरण हो चुका है. इस पार्टी के सांसदों पर कुल अस्सी मामले हैं. दूसरे नंबर पर बसपा है. इसके बहुजनों के खिलाफ 43 मामले दर्ज हैं. भाजपा सांसदों के खिलाफ 17 और कांग्रेस के सांसदों के खिलाफ कुल 16 मामले दर्ज हैं. लोकसभा के लगातार गिरते हुए स्वरूप को देखकर अगर कोई नई पीढ़ी से आस लगाए, तो उसे निराशा ही हाथ लगेगी. तीस फीसदी से ज्यादा नौजवान सांसदों के खिलाफ आपराधिक मामले चल रहे हैं. जाहिर है, बड़े-बुजुर्गों को अपना आदर्श बनाना आखिर भारतीय मानस के अनुकूल ही है.

अगस्त 2008 के विश्वास प्रस्ताव के पहले ही यह तय हो चुका था कि चौदहवीं लोकसभा अब तक की सबसे घटिया साबित होने वाली है. संसद की बची हुई इज्जत सांसदों ने विश्वास प्रस्ताव के दौरान उतार दी. लोकसभा के वेल में ऐसी शर्मनाक घटना घटी जिसे भुलाया न जा सकेगा. लोकसभा में विश्वास प्रस्ताव की कार्यवाही को पूरी दुनिया देख रही थी. भारत-अमेरिका परमाणु सौदे के विरोध में वाम दलों ने अपना समर्थन वापस ले लिया था, जिसके बाद यूपीए सरकार को विश्वास मत हासिल करने के लिए मजबूर होना पड़ा. सांसदों को यह फैसला करना था कि यूपीए के पास अब भी बहुमत है या नहीं. दिन भर की गरमागरम बहस के बाद मतदान होने वाला था. लोकसभा के भीतर अचानक ड्रामा शुरू हो गया. बीजेपी के कुछ सांसद वेल में जाकर नोटों की गड्डियां लहराने लगे. इस कार्यवाही का सीधा प्रसारण टी. वी. पर हो रहा था जिसे देख कर पूरा देश स्तब्ध था. दलगत राजनीति का स्तर इतना नीचे जा सकता है, ऐसी किसी को उम्मीद नहीं थी. सदन के भीतर भाजपा सांसद प्रजातंत्र का मखौल उड़ा रहे थे, तो सदन के बाहर आडवाणी एंड ब्रदर्स मीडिया के जरिए सत्ता पक्ष पर निशाना साध रहे थे. इस घटना से लोकसभा के दामन पर जो दाग लगा, उसे अब कभी धोया नहीं जा सकता. लोकसभा की मर्यादा शायद इससे ज्यादा नीचे नहीं गिर सकती है.

अब तो बस यही बाकी रह गया है कि संसद के अंदर बलात्कार हो जाए या एक सांसद दूसरे की हत्या कर डाले. चौदहवीं लोकसभा अब तक की सबसे घटिया लोकसभा है, इस बात का जीता-जागता सबूत हैं इसके अध्यक्ष सोमनाथ चटर्जी. जनता ने सोमनाथ दा को संसद के अंदर कभी चिल्लाते, कभी चीखते, सांसदों को डांटते और अफसोस जताते देखा है. कभी वह स्कूल के हेडमास्टर की भूमिका में नजर आए, तो कभी परिवार के किसी बुजुर्ग की तरह उद्दंड युवाओं के शर्मनाक व्यवहार पर अफसोस जताते दिखे. वह कई बार विलाप करते हुए पाए गए कि अमुक दिन उनके संसदीय जीवन का सबसे शर्मनाक दिन है. ऐसे चार मौके आए, जब कुर्सी पर बैठे हुए सोमनाथ दा की आंखें नम हो गईं. ऐसा तो शायद कोई सत्र नहीं था, जब उन्होंने सांसदों के घटिया बर्ताव पर अफसोस नहीं जाहिर किया हो.

क्या तमाम बातों के बाद अब भी शक की कोई गुंजाइश है कि चौदहवीं लोकसभा को अब तक की सबसे घटिया लोकसभा के रूप में याद किया जाएगा.

चौथी दुनिया

आर एन आई रजि.न.45843/86

वर्ष 23 अंक 1

प्रधान संपादक
संतोष भारतीय

मैसर्स अंकुश पब्लिकेशन्स प्राइवेट लिमिटेड के लिए मुद्रक व प्रकाशक रामपाल सिहं भदौरिया द्वारा जागरण प्रकाशन लिमिटेड डी 210-211 सेक्टर 63, नोएडा उत्तर प्रदेश से मुद्रित एवं के-2, गैनन, चौधरी बिल्डिंग, कनाट प्लेस, नई दिल्ली 110001 से प्रकाशित

संपादकीय कार्यालय

के 2-गैनन,
चौधरी बिल्डिंग
कनाट प्लेस
नई दिल्ली 110001

फोन न.

संपादकीय +91 011 47149999
विज्ञापन +91 011 47149916
प्रसार +91 011 47149905
फैक्स न. +91 011 47149906

बजट है या तबाही का गज़ट ?

छब्बीस फरवरी को लोकसभा का अंतिम सत्र समाप्त हुआ है,जिसने अंतरिम बजट पास ज़रूर किया पर उस बजट में गरीब और कमज़ोर तबकों के लिए कुछ भी आशा नहीं दिखाई दे रही है.केंद्र सरकार के कार्यवाहक वित्त मंत्री प्रणव मुखर्जी बजट लेकर संसद आए तो बजट के लोक हितकारी होने की उम्मीद लगाई जा रही थी. 25 साल के लंबे अंतराल के बाद बजट पेश करते प्रणव मुख़र्जी के बजट के चारों ओर आशंकाओं के बादल मंडरा ही रहे थे. लोकहित की चुनावी उम्मीद की आशंकाओं के बीच बजट ने निराश किया,हताश किया और सरकार के संकटमोचक कहीं से भी देश के संकटमोचक नजर नहीं आए. यूपीए के पांच सालों में पेश हुए बजट ने ग़रीबों, किसानों,मज़दूरों और मध्यम वर्ग के लिए आशा की कुछ झलक तो दिखाई पर वह केवल झलक ही रही.

सवाल यह नहीं है कि मुखर्जी ने क्या किया और उन्हें क्या करना चाहिए था. असल सवाल यह है कि पिछले आम बजट में इस देश की बुनियादी समस्याओं के निपटारे के लिए कितने कारगर फैसले किए गए. दूसरी बड़ी बात यह, कि पिछले पांच सालों से इस देश में पेश बजट आखिर इस देश की वास्तविक समस्याओं से कितना ताल्लुक रखते हैं.

इस बजट में,या पिछले पांच सालाना बजट में मुसलमानों को क्या मिला! सौ करोड़ से ज्यादा आबादी वाले मुल्क में बीस करोड़ के आसपास आबादी वाली जमात विकास की मुख्यधारा से कोसों दूर खड़ी हैं और बार बार अपने हक मिलने की आस लगाए टकटकी बांधे देख रही है.सत्ता और विपक्ष को क्यों समझ में नहीं आता कि अगर इतनी बड़ी आबादी विकास से दूर रहेगी तो उसका कितना खतरनाक असर देश की एकता और अखंडता पर पड़ेगा.

सच्चर कमेटी रिपोर्ट की सारे देश में खूब चर्चा हुई.कांग्रेस या यूपीए ने अपनी पीठ ठोंकी वहीं मुसलमानों को एक आशा बंधी कि सरकार अब उनकी बुनियादी समस्याओं के लिए कुछ करेगी,पर यह आशा रेगिस्तान में पानी दिखाई देने जैसी ही भ्रामक साबित हुई. डर तो अब इस बात का है कि सच्चर कमेटी की रिपोर्ट अब एक दस्तावेज बन कर रह जाएगी,उसका कोई इस्तेमाल मुस्लिम मसलों के हल निकालने में नहीं होगा.केंद्र सरकार ने काम करने के कीमती वक्त को बर्बाद कर दिया और मुसलमानों के आर्थिक विकास का सपना तोड़ दिया.कमीशन की रिपोर्ट सरकार को मिल गई लेकिन उसने इसे लोकसभा में पेश नहीं किया और संकेत दे दिया कि शायद आगामी पंद्रहवी लोकसभा में यह पेश न की जाए.इस रिपोर्ट का पेश न होना कई तरह के शक पैदा करता है.कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में मुसलमानों की हालत सुधारने के लिए ठोस सुझाव दिए हैं.इन सुझावों पर अमल करने की हल्की सी भी झलक इस बजट में नहीं है.अगर सरकार में ईमानदारी होती तो वह सांकेतिक रूप से मुसलमानों के आर्थिक विकास की योजना बनाती और उसके लिए धन आवंटित करती. 2004 के लोकसभा चुनावों के बाद हर बजट के बाद सरकार ने मुसलमानों से नुमाइंदों से कहा कि अगले बजट में उन्हें पर्याप्त राशि विकास के लिए मिलेगी पर लोकसभा खत्म हो गई,चुनाव सर पर आ गए,अगले तीन महीनों नई सरकार बन जाएगी,लेकिन सरकार ने विकास में हिस्सेदारी के अपने वायदे को पूरा नहीं किया.

इस अंतरिम बजट का मतलब समझने की कोशिश सभी को करनी चाहिए. प्रणव मुखर्जी ने अंतरिम बजट में क्या किया है? सबसे पहले राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी योजना (नरेगा को लें जिसे यूपीए सरकार ने अपनी सबसे बड़ी योजना का नाम दिया है और जिसके बल पर भारत निर्माण के दावे किए जा रहे हैं.इस योजना के लिए अनुदान को 16,000 करोड़ रुपए से बढ़ा कर 31,000 करोड़ रुपए कर दिया गया है.इसके अलावा,योजना की वास्तविक राशि जमीन पर कितनी पहुंच पा रही है और देश भर में इसे लागू करने वाले स्थानीय निकायों को क्या दिक्कतें आ रही हैं,उससे वित्त मंत्री पूरी तरह बेखबर दिखे.बजट में ग्रामीण रोजगार योजना की राशि तो बढ़ा कर दो गुनी कर दी गई है,लेकिन ग्रामीण रोजगार योजना में मुसलमानों को काम मिले इसे सुनिश्चित नहीं किया गया है.शिक्षा और स्वास्थ्य पर न कोई रकम बढ़ाई गई है और न इसकी अहमियत ही समझी गई है. हां,डिफेंस पर तीस फीसदी की रकम बढ़ाई गई है लेकिन क्यों बढ़ाई गई है इसे जानना ज़रूरी है.

इसी लोकसभा ने अमेरिका के साथ परमाणु समझौता किया है और अब समझौते के तहत परमाणु बिजली घरों का सामान विदेशों से आना है जिसमें अमेरिका,फ्रांस और रूस प्रमुख हैं.पर सबसे प्रमुख है इज़रायल से सरकार को फाल्कन रडार,निगरानी उपकरणों और हथियार खरीदने हैं जिसमें इस बढ़ी रकम का इस्तेमाल किया जाएगा.संभव है अगले कुछ हफ्तों में यह समझौता हो जाए. रक्षा क्षेत्र पर बजटीय आवंटन बढ़ाए जाने की कवायद में सरकार ने इस ओर बिलुकुल ध्यान नहीं दिया कि देश के भीतर सुरक्षा एजेंसियों को भी आधुनिक बनाया जाना है जिसके लिए पैसे की जरूरत है. गैर योजना खर्च को 1,41,703 करोड़ रुपए तक बढ़ाने की घोषणा की गई,लेकिन यह नहीं बताया गया कि यह आवंटन किस मद में किया जाएगा.

सीपीएम पोलित ब्यूरो के सदस्य सीताराम येचुरी ने बजट पर बोलते हुए कहा कि वित्त मंत्री ने राजस्व में गिरावट को कर कटौती में प्रोत्साहन की योजना से ढंकने की कोशिश की है. यह ग्रामीण विकास को अंतरिम बजट में मिलने वाले आवंटन में कटौती से पता चलता है, जिनमें शहरी विकास और खाद्य सुरक्षा प्रमुख हैं.

आखिर में इस बजट का वह पहलू जिसे जानना सबसे ज़रूरी है.राजीव गांधी प्रधानमंत्री थे,वर्ष 1988-1989 के बजट में राजकोषीय घाटा 10% पहुंच गया था जिसकी छूट उन्होंने ली थी, जिसके कारण 91-92 में आर्थिक संकट पैदा हो गया था. चिदंबरम ने 28 फरवरी 20 को अपने बजट में मौजूदा वर्ष के लिए राजकोषीय घाटे को सकल घरेलू उत्पाद का 2.5 फीसदी तय किया था और राजस्व घाटे को जीडीपी का एक फीसदी रखा गया था. उन्होंने दरअसल घाटे को नीचा दिखाते हुए लोगों की आंखों में महज धूल झोंकने का काम किया है.वह लगातार दावा करते रहे कि उनके पास जीडीपी में अतिरिक्त 0.5 फीसदी की राहत राशि है, यानी अगर मौका मिले तो वह राजकोषीय घाटे को जीडीपी का तीन फीसदी भी दिखा सकते थे.इसी के दायरे में उन्होंने तमाम किस्म के खर्च तय करने की बात की है.प्रणव मुखर्जी ने अब राजकोषीय घाटे को बढ़ा कर छह फीसदी कर दिया है और राजस्व घाटा बढ़ कर जीडीपी का 4.4 फीसदी हो गया है.यह भी बहुत नीचा अनुमान है. समझदार अर्थशास्त्री मानते हैं कि आने वाले छह महीनों में राजकोषीय घाटा बढ़कर 13% से 14% हो जाएगा.इसका परिणाम होगा कि अगर बराक ओबामा की कोशिशों की वजह से 2009 के अंत में वैश्विक मंदी कम भी हो गई तो आंतरिक अर्थव्यवस्था खराब हो जाएगी. हमारा उधार बढ़ता जा रहा है.मौज़ूदा सरकार मंदी की वजह से बढ़ रही बेरोजगारी की समस्या पर ध्यान ही नहीं दे रही है.शायद वित्त मंत्री भूल गए कि बढ़ती शहरी बेरोजगारी को दूर करने के लिए भी कोई योजना लाई जानी चाहिए थी. इन सबका परिणाम देश में कानून व्यवस्था के समस्या के रूप में सामने आएगा क्योंकि रोजी के अवसर कम होने की वजह से अक्सर अपराध का ग्राफ जाता है.

भाजपा महासचिव अरुण जेटली ने बहुत साफ शब्दों में इस अंतरिम बजट पर कहा कि सरकार ने इस बजट में कुछ नहीं कर के सबसे सुरक्षित रास्ता अपनाया है.यही यूपीए का असली चरित्र है.सरकार ने दिखा दिया है कि वह इनकार की मानसिकता में जी रही है.आर्थिक संकट के अस्तित्व और वास्तविक आर्थिक कसौटियों के प्रति यूपीए सरकार का रवैया उसके नकार को दर्शाता है.

मुखर्जी ने अपने बजट भाषण में कहा, कि हम कभी भी इस बात को नहीं भूले कि आम आदमी का कल्याण सबसे बढ़ कर है और हमारी साठ फीसदी आबादी गांवों में ही रहती है, इसीलिए इन क्षेत्रों पर ज्यादा ध्यान दिया गया है.वैसे उनका वक्तव्य चुनावी नारे और मुहावरेबाजी से अधिक नहीं था. वजह साफ है कि उनकी किसी योजना से देश के गरीबों, किसानों, अल्पसंख्यकों और मध्यमवर्ग को तत्काल जरूरत है.

सवाल यह नहीं है कि मुखर्जी ने क्या किया और उन्हें क्या करना चाहिए था.असल सवाल यह है कि पिछले आम बजट में इस देश की बुनियादी समस्याओं के निपटारे के लिए कितने कारगर फैसले किए गए.दूसरी बड़ी बात ये,कि पिछले पांच सालों से इस देश में पेश बजट आखिर इस देश की वास्तविक समस्याओं से कितना ताल्लुक रखते हैं.

चौथी दुनिया ब्यूरो

नरेगा पर दोगुने आवंटन का मतलब मौत का इनाम

यूपीए सरकार राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी योजना (नरेगा) पर अपनी पीठ थपथपाने से चूक नहीं रही है,लेकिन सच्चाई यह है कि इसे जमीन पर लागू करने वालों की जिंदगी ही खतरे में पड़ी हुई है. केंद्रीय रोजगार गारंटी परिषद के सदस्य ज्यां द्रेज द्वारा एक फरवरी 2009 को झारखंड के पुलिस महानिदेशक और राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग को लिखी चिट्ठी नरेगा को लेकर सरकार की गंभीरता की पोल खोलती है.

द्रेज की चिट्ठी झारखंड के लातेहार जिले के मनिका गांव में नरेगा से जुड़े दो कार्यकर्ताओं की गिरफ्तारी के बारे में है.मनिका थाने में कुछ दिनों पहले वन विभाग द्वारा एक एफआईआर दर्ज की गई थी जिसमें जेरुआ और कोपा ग्राम पंचायतों के निवासियों समेत नरेगा के दो कार्यकर्ताओं भूखन सिंह और नियामत अंसारी के खिलाफ तीन फरवरी को वन विभाग के अधिकारियों पर जानलेवा हमले का आरोप लगाया गया है. द्रेज ने अपने पत्र में कहा है कि यह एफआईआर फर्जी है क्योंकि ये दोनों कार्यकर्ता तीन फरवरी को उनके साथ लातेहार में थे.वहां नरेगा की पूरी टीम सात फरवरी को होने वाली जन सुनवाई की तैयारियों में जुटी थी.नरेगा के एक दूसरे कार्यकर्ता सुनील कुमार ने खुद एक हलफनामा दाखिल किया है.

पत्र के मुताबिक इससे पहले भी इन दोनों कार्यकर्ताओं के राज्य प्रशासन द्वारा उत्पीड़न के प्रयास किए गए हैं और यहां तक कि एक अक्टूबर 2008 को नियामत अंसारी की जान लेने की भी कोशिश की गई थी.ये दोनों ही कार्यकर्ता गरीब परिवारों से आते हैं और सरकार की योजना से जुड़ कर इन्होंने गांवों में बेरोजगारी की समस्या को दूर करने की बड़ी पहल की है.जिस देश के बजट में राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी योजना के लिए आवंटन को दोगुना कर देने की बात कही जाती है,वहीं इसे लागू करने में किए गए कार्यकर्ताओं के बेहतरीन कामों का ईनाम सरकार की ओर से उत्पीड़न और फर्जी मुकदमों के रूप में दिया जाता है.

पिछले साल इसी योजना से जुड़े एक सिविल इंजीनियर ललित मेहता की झारखंड के पलामू में हत्या कर दी गई थी.तब काफी बवाल मचा था और पहली बार यह बात खुल कर सामने आई थी कि नरेगा पूरे देश में एक जानलेवा योजना बनती जा रही है.सामाजिक संगठनों द्वारा बड़े पैमाने पर विरोध जताए जाने के बावजूद सरकार अब तक मेहता के हत्यारों को सजा नहीं दिलवा सकी है.मेहता ने नरेगा को लागू करने के लिए मिलने वाले पैसे के हेर-फेर को अपनी लेखा रिपोर्ट में उजागर किया था.

अंतरिम बजट में सरकार की इस सबसे बड़ी योजना में पैसों का बढ़ा हुआ आवंटन न तो बेरोजगारी को दूर करने के काम आएगा,और न ही इससे नरेगा कार्यकर्ताओं को कोई सुरक्षा मुहैया होगी.इससे सिर्फ स्थानीय प्रशासन और उसके दलाल ठेकेदारों की जेब गर्म होगी,वे और ज्यादा ताकतवर होंगे और खुद सरकार की इस योजना की शव यात्रा का ही प्रबंध कर देंगे.

चौथी दुनिया ब्यूरो

टीवी के लिए गांधी और सुभाष चंद्र बोस का अस्तित्व नहीं

व्यालोक

अब सुभाष बाबू बाजार की पसंद तो हैं नहीं? फिर किसी अंग्रेज ने उन पर फिल्म भी नहीं बनाई, जिसके ऑस्कर में जाने और पुरस्कार जीतने की संभावना हो. स्लमडॉग मिलिनेयर में तो सारी संभावनाएं थीं. पहली बार किसी ऐसी फिल्म को ऑस्कर मे दस नामांकन मिले, जिसमें कलाकार भारतीय, संगीतकार भारतीय और वातावरण भारतीय हो. कॉलोनियल हैंगओवर से पीड़ित हम भारतीयों के लिए तो यह खासे गौरव का क्षण था.

वह 23 जनवरी की एक सर्द सुबह थी. मैं भाई साहब के यहां बढ़िया नाश्ते का लुत्फ उठाने सवेरे ही पहुंच चुका था.भाभी के बनाए लजीज पराठों को खाकर मैं और भाई साहब दफ्तर के लिए निकलने वाले थे. भाई साहब बड़े पत्रकार हैं. कई खबरिया चैनलों की राह से गुजर कर फिलहाल एक अखबार में काफी बड़े पद पर विराजे हैं. अचानक ही भाभी ने भाई साहब से पूछा–आज क्या तारीख है? भाई साहब ने कहा–23 जनवरी. भाभी ने फिर कुरेदा, तो आज क्या हुआ था? क्या हुआ था– भाई साहब ने प्रतिप्रश्न किया. अब तो बस भाभी की मिसाइल दगनी शुरु हो गई. शर्म आनी चाहिए आप लोगों को, आज नेताजी सुभाष चंद्र बोस का जन्मदिन है और किसी खबरिया चैनल ने एक लाइन की खबर भी लगाने की जहमत नहीं की. अखबारों में भी कहीं कोई जिक्र नहीं है– भाभी भड़कते हुए बोलीं.

अब भाई साहब कहें तो क्या कहें? मुझे भी काटो तो खून नहीं. भाभी का कहना सच तो था ही. मैं खुद को थोड़ी सांत्वना इसलिए दे रहा था क्योंकि सुबह एक अखबार में आठवें–नौवें पेज पर एक कॉलम की खबर नेताजी के बारे में दिख गई थी. इसमें बताया गया था कि नेताजी की इच्छा के मुताबिक सरकार अब तक अंडमान–निकोबार द्वीपों का नाम शहीद और स्वराज नहीं रख पाई है. यह खबर न दिखती, तो शायद मैं भी 23 जनवरी के महत्व को नहीं याद रख पाता. भाभी के याद दिलाने पर कि आज सुभाष चंद्र बोस का 112 वां जन्मदिवस है, अचानक जैसे एक धक्का–सा लगा. मीडिया की दशा और दिशा पर काफी मर्सिया पढ़ा जा चुका है. हैरानी की बात है कि यह देश आजादी के महज 62 साल बाद ही अपने महानायकों को इस कदर भूल बैठा है. अगर उस दिन के अखबारों या खबरिया चैनलों का विश्लेषण करें तो दिखता है कि पूरा देश स्लमडॉग मिलिनेयर की जय हो में लगा था. उसी दिन इस फिल्म को चार गोल्डेन ग्लोब पुरस्कार मिलने की खबर पूरे मीडिया को मदमस्त किए हुई थी. इस फिल्म को गोल्डेन ग्लोब मिलना मानो हमारी सामूहिक चेतना को मदहोश कर गया था. ब्रेकिंग न्यूज देने और तात्कालिकता के फेर में खबरिया चैनलों की यह अनदेखी तो कोई नई बात नहीं थी. खबरिया चैनलों के लिए सुभाष बाबू कोई खबर नहीं, क्योंकि वह फैशन में नहीं हैं. आखिर यह देश गांधी को भी कितना याद करता है? 30 जनवरी और दो अक्तूबर को जरूर एक रवायत दुहरा दी जाती है. हमारे कर्णधार इन दो दिवसों पर राजघाट जाकर अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं. हां, गांधीवाद की जगह बीच में कुछ दिनों गांधीगीरी(?) खूब चली. मुन्नाभाई ने जब से रुपहले पर्दे पर गन्ही महत्मा को जगह दिलाई, तो मीडिया में भी उनकी धूम मच गई. गुलाब के फूल देकर विरोध दर्ज कराने का भी रिवाज–सा चल गया. अब सुभाष बाबू बाजार की पसंद तो हैं नहीं? फिर किसी अंग्रेज ने उन पर फिल्म भी नहीं बनाई, जिसके ऑस्कर में जाने और पुरस्कार जीतने की संभावना हो. स्लमडॉग मिलिनेयर में तो सारी संभावनाएं थीं. पहली बार किसी ऐसी फिल्म को ऑस्कर मे दस नामांकन मिले, जिसमें कलाकार भारतीय, संगीतकार भारतीय और वातावरण भारतीय हो. कॉलोनियल हैंगओवर से पीड़ित हम भारतीयों के लिए तो यह खासे गौरव का क्षण था. इस सारे फसाद में सुभाष बाबू की याद भला किसे आती. स्लमडॉग मिलिनेयर को मिलने वाले पुरस्कार और प्रशंसा हमारी राष्ट्रीय खुशी और सरोकार का केंद्र बन गए थे.

खैर, भाईसाहब की मलामत होने के बाद मैंने अपने बाकी पत्रकार साथियों का जायजा लेना चाहा कि आखिर वे कितने पानी में हैं. सबसे पहले मैंने खबरिया चैनलों की खबर ली. पहली बारी खबर किसी कीमत पर देने वाले चैनल की थी. वहां के बंधु अपराध–कथाओं और ऐतिहासिक खोजों(?) में ही लगे रहते हैं. कभी राम का धनुष, तो कभी रावण की ममी का मिलना इस चैनल के लिए सामान्य–सी बात है. वहां भी उदासी छाई हुई थी. काफी दिनों से रामजी छुट्टी पर चल रहे थे. सुभाष बोस के बारे में पूछने पर उसने कहा कि हां कुछ चलेगा तो जरूर, लेकिन यार ज्यादा समय कौन देगा उधर. खबर तो स्टेल ही है न. बिकेगी थोड़े ही. फिर मैंने हकीकत जैसी, खबर वैसी दिखाने का दावा करने वाले चैनल की टोह ली. वहां हालत और भी खराब थी. वहां काम करने वाले एक सीनियर से जब मैंने बात की, तो उन्होंने कहा कि यार तुम्हारे साथ यही बुनियादी दिक्कत है और इसी वजह से तुम अब तक किसी ढंग की नौकरी में नहीं हो. तुम्हारा न्यूजसेंस ही खराब है. यार, आज स्लमडॉग मिलिनेयर खबरों में है, ओबामा का दोबारा शपथ लेना, कल्याण सिंह का इस्तीफा और कोर्ट में एक आदमी ने अपनी बीवी को घायल कर दिया. ये सब खबरें हैं. तुम कहां अब भी नेताजी से चिपके पड़े हो. मैंने अपने मित्र का इस ज्ञान देने के लिए धन्यवाद दिया और फोन ऑफ कर दिया. अगला चैनल आपको सबसे आगे रखने वाला था वहां का मित्र मेरे पिछड़ेपन को कोसता हुआ बोला– अमां यार, तुम कहां साठ साल पहले की बातों पर ही अटके हो, आगे बढ़ो यार. सही बात भी थी, उनके पास सास–बहू चैनल से फुर्सत हो, तब तो. अब तो बारी सबसे तेज चैनल की ही थी, जो खेलकूद (पढ़ें क्रिकेट) में आजकल काफी तेज़ हो गया है. वहां के मित्र ने नेताजी का नाम सुनने पर कहा कि अरे बॉस उनके तो मजे हैं, आजकल. कल्याण सिंह को भी अपने साथ शामिल कर लिया है. अब तो भाजपा और बहनजी को चिंता करने दो. तुम काहे उनकी फिक्र में दुबले हुए जा रहे हो. इन तमाम जवाबों के बाद मेरे पास कुछ करने या कहने को बचा ही कहां था. बात भी सही थी. नेताजी या मुलायम सिंह यादव की चिंता के लिए तो अमर सिंह हैं ही. फिर मुझे भला उनकी फिक्र करने की क्या आवश्यकता.

खबरिया चैनलों की थाह लेने के बाद प्रिंट पर भी एक नजर डालने की सोची. कुछ अखबारों ने भीतर के पन्नों पर ही सही, लेकिन नेताजी से संबंधित खबरें प्रकाशित की थीं. एकाध अखबार ने तो संपादकीय पन्ने पर भी लेख लिखे थे. वैसे बात नेताजी की ही क्यों करें. ठीक एक सप्ताह बाद 30 जनवरी को हमारे राष्ट्रपिता महात्मा गांधी की पुण्यतिथि पर भी वही माहौल था, हालांकि नेताओं ने गांधीजी के समाधि–स्थल पर जाकर फूल–मालाएं चढ़ाने की रस्म पूरी की, लेकिन हमारे खबरिया चैनल उस दिन भी सोते ही नजर आए. गांधी बाबा पर भी कोई खास कार्यक्रम या विशेष समाचार दिखाए गए हों, ऐसा कहीं नजर नहीं आया.

सारे हालात पर गौर करने के बाद मुझे एक ही शेर याद आया– बहुत शोर सुनते थे पहलू में दिल का, जो चीरा तो कतरा–ए–खूं भी न निकला. नेताजी सुभाषचंद्र बोस के 112वें जन्मदिवस पर मीडिया की यह चुप्पी हैरतनाक ही नहीं, शर्मनाक भी है. पूरे परिदृश्य पर गौर करें, तो यही कहना होगा कि हम कौन थे, क्या हो गए हैं और क्या होंगे अभी ?

हिंदू होने का धर्म

आज हिंदू शब्द जिस अर्थ और संदर्भ में इस्तेमाल किया जाता है, सच पूछिए तो वह हिंदू होने की अवधारणा से ही कोसों दूर है. पहली बात तो हमें यह समझनी होगी कि हिंदू कोई धर्म है ही नहीं. अगर हम धर्म के अर्थ में उसे समझना ही चाहें, तो वह सनातन धर्म होगा जिसका विकास वैदिक, उत्तर–वैदिक, पौराणिक, सल्तनत काल और ब्रिटिश काल से लेकर आज इक्कीसवीं सदी तक अलग–अलग स्तरों पर हुआ.

हमारे देश में आजकल धर्म के नाम, खासकर हिंदू धर्म के नाम पर जो कुछ हो रहा है, उससे कुछ सवाल खड़े हुए हैं. सवाल यह है कि हिंदुत्व के नाम पर जो कुछ हो रहा है, वह आखिर क्या है. सबसे अहम सवाल तो यह, कि हिंदू धर्म की मौजूदा व्याख्या को किस तरह से सही रूप में वापस लाया जा सकता है. हम अपनी शुरुआत धर्म के सही स्वरूप को प्रस्तुत करने से करेंगे. सही स्वरूप से हमारा मतलब है उन बुनियादी चीजों की बात, जिनसे कोई भी धर्म बनता है और जिसमें समय के साथ अनेक प्रदूषक तत्व शामिल हो जाते हैं. इस प्रदूषण के जिम्मेदार वही तथाकथित उलेमा और पंडित हैं, जिनके अज्ञान ने सभी धर्मों का कबाड़ बना दिया है. बात सभी धर्मों की होगी, पर शुरुआत हम हिंदू धर्म से करने जा रहे हैं. आखिर संक्रमण के इस दौर में हिंदू होने का मतलब तलाशना बेहद जरूरी भी हो गया है. अपनी विरासत और मौजूदा प्रदूषण के बीच जनता भ्रमित है. आखिर उसे जो पट्टी पढ़ाने की कोशिश की जा रही है, उससे वह कैसे खुद को बचा सकती है. इसलिए हमारा सबसे पहला काम यह जानने की कोशिश करना होगा, कि हिंदू धर्म क्या है और हिंदू होने का मतलब क्या है. पहली बात तो हमें यह समझनी होगी कि हिंदू कोई धर्म है ही नहीं. अगर हम धर्म के अर्थ में उसे समझना ही चाहें, तो वह सनातन धर्म होगा जिसका विकास वैदिक, उत्तर–वैदिक, पौराणिक, सल्तनत काल और ब्रिटिश काल से लेकर आज इक्कीसवीं सदी तक अलग–अलग स्तरों पर हुआ.

हम धर्म के विकास के इन विभिन्न चरणों को अलग–अलग समझने की कोशिश करेंगे. पूर्व वैदिक काल में धर्म नाम की चीज रूढ़ नहीं हुई थी. धर्म की केवल परिकल्पना थी. इंसान जंगलों में रहता था, प्रकृति के रहस्यों से परिचित नहीं था और उसकी ज़रूरतें सीमित थीं. वह जो भी करता था, जो भी संग्रहित करता था, जो भी प्रकृति से लेता था, वही धर्म था. धारयति इति धर्म. यानी हम जो भी धारण करते हैं, वही धर्म है. धीरे–धीरे यह जीवन के सारे पक्षों में व्याप्त हो गया. सच पूछिए तो जिन्हें हम आज जातियां कहते हैं, वही धर्म थे– पूर्व वैदिक काल में– जिसे हम कर्म भी कह सकते हैं. इसे ऐसे समझें. हमने आग को खोजा, फिर किसी धातु को. हम में से ही किसी ने यह रहस्य खोज निकाला कि धातु को आग में पकाएं, तो बेहतर अस्त्र बन सकते हैं. तो वह हो गया शिल्पी और शिल्पकला ही बन गया उसका धर्म. इसी तरह समय के साथ मिट्टी के बर्तन बनाने वाले कुंभकार, कपड़ा बनाने वाले बुनकर और चमड़े का काम करनेवाले चर्मकार हो गए. यह बात दीगर है कि उस समय न तो ये काम जाति के नाम से जाने जाते थे, न ही धर्म के नाम से. (इसे ही बाद में गीता में कहा गया– चातुर्वर्णं मयाशरणं, यानी चारों ही वर्ण मुझमें समाहित हैं). बाद के दिनों में भले ही यह रूढ़ हो गया. उत्तर–वैदिक काल में धर्म धीरे–धीरे विकसित होने लगा. उसी समय देवताओं की स्थापना हुई. इंसान धीरे–धीरे प्रकृति के करीब आने लगा. हालांकि कुछ रहस्य उसके लिए अनछुए थे. उन तत्वों के डर या आदर से ही बने देवता. देवता यानी देने वाला. जो भी सुख दे, वही देवता. जो भी अनजाना और अनिष्टकारी है, वह भी देवता. इसीलिए, बादलों की गरज से उपजे इंद्र, सागर की लहरों को नाम दिया गया, वरुण. और इसी तरह अग्नि, यम और तमाम देवताओं का निर्माण हुआ. ज़ाहिर है, इंसान सिर्फ अपनी शक्ल जानता था, इसीलिए अपने देवताओं को भी उसने इंसानी शक्ल ही दी. किसी ग्रीक दार्शनिक ने कहा था कि यदि इंसान की शक्ल घोड़े की तरह होती, तो उसके देवता भी घोड़े की तरह ही दिखते. साथ ही, जिन ताकतों की इंसान को जरूरत थी, वे सारे उसने अपने देव–ताओं में समाहित कर दिए.

पौराणिक काल में तमाम जातियों के मिलने–जुलने से धर्म का संगठित और कुछ विकृत रूप बना. पुरोहितों का वर्चस्व हुआ, जातिगत बंधन कड़े हुए, मनुष्य प्रकृति को जानने लगा, इसलिए उससे दूर हुआ. कुछ नहीं बदला, तो धर्म को डराने का औजार बनाने का काम. लगभग इसी समय हिंदू शब्द भी प्रचलित हुआ. हिंदू यानी सिंधु नदी के इस ओर रहने वाले लोग. ईरानी जाति चूंकि 'स' अक्षर को 'ह' कहती थी, तो सिंधु बना हिंदु और यहां के धर्मावलंबी हो गए हिंदू.

हालांकि हमें पूछना चाहिए कि हिंदू होने का मतलब क्या है. हिंदू होने का मतलब यह कि हम जो भी कर्म करें, उसका प्रभाव दूसरों पर अच्छा पड़े. हिंदू होने का मतलब त्याग करने की इच्छा. तभी तो यहां के मिथकों या पुराणों में कोई राजपुत्र (राम) अपना सब कुछ छोड़ कर जनता के बीच जाता है. हिंदू होने का मतलब सामाजिकता है– तभी तो कृष्ण की कथा में कंस (राजा यानी शोषक) के यहां जाने वाले कर (दूध–दही की मटकियां) का कृष्ण विरोध करते हैं. शोषण के विरुद्ध खड़ा होना भी हिंदू धर्म का ही मतलब है. कृष्ण का चरित्र यही दिखाता है. साथ ही, हिंदू अपनी बात दूसरों पर थोपता भी नहीं. वह अपनी बात सहज कौशल से दूसरों तक पहुंचा देता है. खेल–खेल में गोपियों की मटकियां फोड़कर कृष्ण उनका मथुरा जाना रोक देते हैं. लक्ष्य भी पूरा और किसी के साथ जबर्दस्ती भी नहीं. क्या आज के स्वयंभू पुरोधा इससे कुछ सीख लेंगे.

हिंदुत्व की एक विशेषता सामाजिकता की भी है. इसे हमारे यहां वसुधैव कुटुंबकम कहा गया है. तभी तो कृष्ण इंद्र की पूजा रुकवा कर गोवर्धन की पूजा शुरू करवाते हैं. वह गोवर्धन जो लकड़ी, जल और सारे संसाधन देता है. इस तरह प्रकृति के करीब रहना भी हिंदू होना है. हिंदू होने का मूल तत्व उदार होना है. अगर आप संकीर्ण हैं, मतांध हैं या किसी भी तरह का भेदभाव मानते हैं, तो आप हिंदू नहीं हो सकते हैं. रामकथा में राम द्वारा शबरी के जूठे बेर खाना और तमाम जनजातियों को संगठित करना इसी का उदाहरण है. हिंदू धर्म की इन कसौटियों पर आज के हमारे तथाकथित रक्षक, पुरोधा और धर्म के ठेकेदार कहीं से खरे नहीं उतरते. कहना तो यह होगा कि वे धर्म की मूल बातों से कोसों दूर जा चुके हैं. कहीं से भी उनको हिंदू कहना ही गलत होगा.

हिंदुत्व के मूल स्वरूप और उससे हुए भटकाव पर हमारी चर्चा चलती रहेगी. हम किस्त–दर–किस्त धर्मों की सही व्याख्या करेंगे, ताकि इनके तथाकथित ठेकेदारों की स्वयंभू व्याख्याओं से छुटकारा पाकर आप खुद को और अपने धर्म को भी समझ सकें. हम पाठकों से भी अनुरोध करना चाहेंगे कि वे भी इस बहस में हिस्सा लेकर अपनी बात हमसे साझा करें, ताकि पूरे देश में 'हिंदू होने का धर्म' पर चर्चा हो. इससे हिंदू धर्म के बारे में कई मिथकों के बारे में समझदारी पैदा करने की हमारी कोशिश सफल हो सकेगी.

चौथी दुनिया ब्यूरो

जानलेवा अमेरिकी
कपास को लाने की साजिश

वंदना शिवा

पिछले एक दशक के दौरान भारत के चार राज्यों में किसानों की खुदकुशी की घटनाएं महामारी की तरह फैल गई हैं. ये चार राज्य हैं महाराष्ट्र, आंध्र प्रदेश, कर्नाटक और पंजाब. सरकारी आंकड़ों के मुताबिक 1997 से लेकर अब तक भारत में कुल एक लाख साठ हजार किसानों ने खुदकुशी कर डाली है. खुदकुशी की घटनाएं उन्हीं इलाकों में आम हैं जहां के किसान कपास पैदा करते हैं और जहां बीजों के मामले में बहुराष्ट्रीय कंपनियों के एकाधिकार का उन्हें शिकार होना पड़ा है. धीरे-धीरे कपास के बीजों की आपूर्ति का काम किसानों और सरकारी तंत्र के हाथ से निकल कर मोंसेंटो जैसे बड़े बीज निर्माता निगमों के हाथ में चला गया है. दरअसल, भारत में बीज बेचने वाले एकाधिकारी निगमों का प्रवेश भारत में भूमंडलीकरण के प्रवेश का ही एक हिस्सा है.

बीज अब सार्वजनिक भलाई की चीज नहीं रह गए हैं, बल्कि वे मोंसेंटो की बौद्धिक संपदा में तब्दील हो चुके हैं जिसके लिए रॉयल्टी भुगतान के माध्यम से ये निगम अकूत मुनाफा काटने की स्थिति में आ गए हैं. किसानों के लिए इसका सीधा सा अर्थ लगातार कर्ज के दलदल में धंसते जाना है. इस प्रक्रिया का एक और असर यह हुआ है कि पहले जहां बीज खुद आगे की फसलों के बीज उपजा पाने में सक्षम थे, वहीं अब इनका इस्तेमाल सिर्फ एक बार हो पाता है और इस तरह ये अपने चरित्र में जिंसों की ही भांति हो जाते हैं. सीधे तौर पर कहें तो बीजों के मामले में एकाधिकारी कारोबार ने बीजों की कमी पैदा कर दी है, जिसके कारण संकर बीजों का चलन शुरू हो गया है. इसका सीधा नतीजा यह हुआ है कि प्राकृतिक बीज का स्थान बीटी-कपास जैसे जैविक बीज ने ले लिया है. यह जैविक बीज इतना विनाशकारी है कि धरती को बंजर कर देता है. इस किस्म की तकनीक का एक ही मकसद है कि किसी तरह किसानों को फसल बुवाई के हर मौसम में नए बीजों की खरीद के लिए बाध्य किया जाए. एक ओर जहां किसानों के लिए इस तरह फसल पैदा करने की लागत बढ़ जाती है, दूसरी ओर बीज निगमों के लिए यह उच्च मुनाफे देता है.

सीधी सी बात यह है कि बीजों पर एकाधिकार की व्यवस्था पूरी तरह बड़े निगमों के अनियंत्रित होते जाने और जैव-सुरक्षा को खतरा पैदा करने पर आधारित है. भूमंडलीकरण के कारण बीज कंपनियां अब खुद द्वारा प्रमाणित बीजों की बिक्री खुले आम करने को आजाद हो गई हैं और जैव-सुरक्षा के लिए भी वे खुद के ही प्रमाणों का इस्तेमाल कर रही हैं. हाल ही में केंद्र सरकार द्वारा प्रस्तावित राष्ट्रीय जैव-प्रौद्योगिकी नियामक प्राधिकरण का दरअसल प्रमुख उद्देश्य यही है.

2004 में सरकार द्वारा प्रस्तावित किए गए बीज विधेयक को राष्ट्रीय स्तर पर किसानों द्वारा चलाए गए बीज सत्याग्रह के माध्यम से रोक दिया गया था. इस विधेयक का उद्देश्य किसानों को उनके द्वारा विकसित बीज की किस्मों को पंजीकृत करवाने से जुड़ा

था.

ये बीज उन्होंने बरसों के अपने काम और अनुभव से विकसित किए थे. इसका अर्थ यह हुआ कि यदि यह विधेयक लागू हो जाता, तो यह किसानों की बुनियादी आजादी को उनसे छीन लेता.

राज्य द्वारा बीजों के मामले में किसी भी तरह के नियमों को खत्म किए जाने का अर्थ दरअसल जैव-विविधता का नाश करना है जो सभी किसानों को पेटेंट किए गए बहुराष्ट्रीय बीजों पर निर्भर बना देता है. अमेरिका और यूरोप में इसी किस्म की लाइसेंस वाली व्यवस्था को अनिवार्य कर दिया गया था जिसके कारण वहां जैव-विविधता का नाश हुआ है और किसानों से उनके बुनियादी अधिकार छिन गए हैं.

सच कहा जाए तो कॉरपोरेट बीजों के इस्तेमाल से किसान एक ही फसल पैदा करने को बाध्य हो जाते हैं. पहले कपास के साथ दालें, सब्जियां और तिलहन आदि को बोया जाता था, लेकिन आज जैविक बीजों के आ जाने से किसान ऐसा नहीं कर पा रहे हैं. वे सिर्फ बीटी कपास उगाने को ही बाध्य हैं.

बीजों के मामले में एकाधिकार पैदा होने की प्रक्रिया में साहूकारों की एक नई जमात पैदा हो गई है जो बीज और खाद कंपनियों के दलाल की भूमिका निभा रहे हैं. इनके दमन के चलते 1997 से लेकर अब तक सैकड़ों-हजारों किसानों ने अपनी जान दे दी है. किसानों की खुदकुशी की शुरुआती घटनाएं आंध्र प्रदेश के वारंगल में हुई थीं. वारंगल के किसान दलहन और तिलहन की खेती करते थे. रातोंरात वारंगल कपास पैदा करने वाले एक जिले में तब्दील हो गया और वे छोटे किसान कर्ज के जाल में फंस गए जिनके पास पूंजी नहीं थी. इनमें से कुछ ने खुदकुशी कर ली.

यही वह दौर था जब मोंसेंटो और भारत में उसकी साझेदार कंपनी महीको गैर-कानूनी तरीके से अपने जैव बीटी-कपास बीजों का प्रयोग खेतों में कर रही थीं. भारत में जैव-संशोधित बीजों के लिए एक कानून है और हमने 1999 में मोंसेंटो को बीटी कपास के बाजारीकरण से रोकने के लिए इन्हीं कानूनों की मदद ली. आखिरकार इसकी बिक्री को 2002 तक मंजूरी नहीं दी गई.

आंध्र प्रदेश में तब तक 3000 किसान खुदकुशी कर चुके थे. राज्य सरकार का मानना था कि ऐसा कपास की ज्यादा कीमत की वजह से हो रहा है. उसने भारत के एकाधिकार विरोधी कानून के तहत मोंसेंटो पर एक मुकदमा यह कहते हुए दायर कर दिया कि आंध्र प्रदेश में मोंसेंटो के बीजों का एकाधिकार ही किसानों को खुदकुशी करने को मजबूर रहा है. मोंसेंटो को इसके चलते बीटी कपास के अपने बीजों के दाम गिराने पड़े, लेकिन यही कदम किसानों को कर्ज तले दबाने में विनाशकारी साबित हुआ. अमेरिका ने अपने यहां कपास उत्पादकों को चार अरब डॉलर की सब्सिडी दे दी थी और डब्ल्यूटीओ की मदद से उसने अपने इस सस्ते कपास को भारत में भेजना शुरू कर दिया. जाहिर है, कम कीमतों के बावजूद किसान कर्ज के जाल में उलझते गए और आखिरकार उन्होंने खुदकुशी करनी शुरू कर दी.

अगर हमें अपने किसानों को खुदकुशी करने से रोकना है, तो सबसे पहले यह तय करना होगा कि मोंसेंटो और महीको जैसी कंपनियां जहरीले अमेरिकी उत्पादों को भारत के बाजार में बड़े पैमाने पर न फैला सकें. इसके लिए नीति-निर्माताओं में जागरूकता पैदा करने के अलावा किसानों को भी यह बात समझानी होगी कि खेती करने के उनके पारंपरिक तरीके ही इस देश की मिट्टी और पर्यावरण के लिहाज से सही हैं. कोई भी विदेशी तकनीक इस देश का नुकसान ही करेगी.

शरद पवार जी, खोलिए

किस सोच में पड़े हैं शरद पवार

दुनिया भर के अधिकतर देशों ने जैव-संशोधित (जीएम) उत्पादों पर प्रतिबंध लगा दिया है या उसे स्थगित कर दिया है. इन देशों में वैज्ञानिक क्षमता या विशेषज्ञता की कमी नहीं है, लेकिन इनके विशेषज्ञों का कहना है कि जीएम फसलों एवं खाद्य उत्पादों के मामले में सतर्क रहने की जरूरत है. यह सावधानी इसलिए आवश्यक है क्योंकि यहां बात किसी जीव में बुनियादी बदलावों की हो रही है जिन्हें उल्टा नहीं जा सकता, वो भी एक ऐसी तकनीक के माध्यम से जिसने खुद को अपर्याप्त और अनिश्चित साबित कर दिया है.

हम यहां उस तकनीक के बारे में बात कर रहे हैं जिसे वापस नहीं लिया जा सकता क्योंकि इसमें ऐसे जीवों को पैदा करना शामिल है जो खुद के आधार पर ही फैलते और बढ़ते रहते हैं. जीएम के सामाजिक-आर्थिक प्रभाव भारत के लिए भारी साबित होने जा रहे हैं. दुनिया भर में आज जीएम फसल क्षेत्र में अस्सी फीसदी से अधिक फसलें खरपतवार प्रतिरोधी हैं, जिसका अर्थ हुआ गरीब ग्रामीण महिलाओं को खरपतवार चुनने के काम से बेदखल कर दिया जाना. यह काम ग्रामीण इलाकों में दिहाड़ी कमाने का एक बड़ा जरिया है. खरपतवार प्रतिरोधी फसलों का अर्थ हुआ खेती में अधिक रसायनों का इस्तेमाल होना, जिसका पर्यावरण और स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ता है.

एक ऐसी स्थिति में, जहां विश्व भर के 180 से अधिक देशों ने जीएम खाद्य फसलों और उत्पादों को नकार दिया है, भारत में इसके साथ प्रयोग करने का नतीजा बहुत बुरा होगा. इससे निर्यात बाजार में घाटा होगा. यदि हमारे उत्पाद कम मात्रा में भी दूषित होते हैं, तो उन्हें बाजार से वापस लेने की प्रक्रिया काफी महंगी होगी. यही सब पिछले दिनों अमेरिका में स्टारलिंक मक्के और लिबर्टीलिंक चावल के मामले में देखा भी जा चुका है.

भारत चावल, बैंगन और अरहर (तुअर) जैसी उन फसलों के साथ प्रयोग कर रहा है जिनकी उत्पत्ति और विविधता के मामले में वह खुद ही केंद्र रहा है. यहां तक कि खुले मैदानों में किए जाने वाले परीक्षणों से होने वाला प्रदूषण भी फसलों की विविधता के लिए विनाशक साबित होगा जो व्यापक आबादी के लिए आजीविका का आधार है. अन्य देशों में ऐसे तमाम फैसले काफी तेजी से लिए गए हैं जिससे इन फसलों की विविधता बची रह सके. यह एक अर्थ में मानवता की सामूहिक विरासत है.

सरकार में बैठे जीएम के समर्थकों के पक्ष में जैव-तकनीक उद्योग बीटी कपास के उत्पादन से जुड़े तथाकथित फायदों के इर्द-गिर्द झूठा प्रचार करने में जुटा हुआ है. यह बात उतनी सही नहीं, जितनी बताई जा रही है. मसलन, मध्य प्रदेश में ही बीटी कपास को लाए जाने के पहले कपास का उत्पादन कहीं ज्यादा था. राज्यवार विश्लेषण बताते हैं कि अन्य राज्यों में भी उपज के आंकड़ों में यही रुझान है. इसी का नतीजा है कि अब तक के सबसे बुरे कृषि संकट के दौर में भी जीएम बीजों का निर्माण करने वाले निगम अपने कारोबारी आंकड़ों में वृद्धि दर्ज कर रहे हैं. जीएम तकनीक किसानों को और ज्यादा बदहाली की गर्त में छोड़ देगी. ऐसी तकनीकें प्रकृति के साथ बुनियादी स्तर पर खिलवाड़ करती हैं जो जाहिर तौर पर आज नहीं तो कल, दिक्कतें पैदा करता है.

मोंसेंटो की भारतीय इकाई महीको भारत में बीटी बैंगन लाने की तैयारी कर रही है. यह भारत की पहली खाद्य फसल है और दुनिया में बीटी जीन वाली पहली सब्जी है जिस पर कंपनी यह प्रयोग करने जा रही है. एक बार यदि बीटी बैंगन को मंजूरी दे दी गई, तो इस देश के किसानों और लोगों के पास कोई विकल्प नहीं रह जाएगा. केरल और उड़ीसा जैसी कुछ सरकारें हैं जो संयोग से जैव-तकनीक पर अपनी समझ बनाने के लिए भारतीय किसानों व व्यापक समाज पर ऐसी तकनीक के पर्यावरणीय, स्वास्थ्य संबंधी, राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक-सांस्कृतिक परिणामों को ध्यान में ले रही हैं. हालांकि, केंद्र सरकार राज्य सरकारों के इस संवैधानिक अधिकार की रक्षा करने के बजाय उल्टे विभिन्न फसलों पर जीएम प्रयोगों को अंधे तरीके से मंजूरी दिए जा रही है. दिल्ली में बैठे नीति-निर्माताओं ने सिद्ध कर दिया है कि वे जमीनी स्तर पर किसानों के वास्तविक अनुभवों के मामले में पूरी तरह गैर-जिम्मेदार, अवैज्ञानिक, असंवेदनशील हैं और उनके हितों के खिलाफ काम कर रहे हैं.

हम यह भी बताना चाहेंगे कि भारत के विभिन्न राज्यों में लाखों किसान अपनी आजीविका को सुधारने के लिए जैविक खेती को गले लगा रहे हैं. वे कहीं ज्यादा इस बात को सिद्ध कर रहे हैं कि वास्तव में जीएम जैसी तकनीकों की इस देश में कोई जरूरत नहीं है क्योंकि कीटनाशक और रोग प्रबंधन से आसान चीज और कुछ नहीं हो सकती.

इस बिंदु पर आकर यह अनिवार्य हो जाता है कि जीएम फसलों के सामने एक बुनियादी सवाल खड़ा किया जाए. ज्यादा सुरक्षित विकल्पों के रहते हुए भी क्या हमें जैव तकनीक से पैदा की गई फसलों की जरूरत है? जो भोजन हम करते हैं, क्या उसके बारे में हमारे पास लोकतांत्रिक अधिकार नहीं होने चाहिए? क्या बीटी बैंगन जैसी फसलों के माध्यम से चुनने का विकल्प हमसे छीना नहीं जा रहा?

चौथी दुनिया ब्यूरो

आत्महत्या की ओर ले जाने वाली तकनीक

जीएम फसलें सबसे पहले अमेरिका में पैदा की गईं. इस तकनीक में पारंपरिक बीजों में कुछ आनुवंशिक रसायन मिला दिए जाते हैं. इसका सीधा उद्देश्य इन फसलों की पैदावार कई गुना बढ़ाना होता है. इससे न सिर्फ खेती करवाने वाले बड़े निगमों को फायदा होता है, बल्कि बीज बनाने वाली कंपनियां भी मुनाफा काटती हैं. अगर नुकसान होता है, तो सिर्फ आम आदमी को जिसके शरीर में तमाम अनचाहे रसायन प्रवेश कर जाते हैं. इसके अलावा उन किसानों की आजीविका को खतरा पैदा हो जाता है जिन्हें इन बीजों को खरीदने और जीएम फसलें उगाने को बाध्य किया जाता है.

जीएम ने कई नई बीमारियों को जन्म दिया है. इनमें प्रमुख है एलर्जिक रिएक्शन. जीएम से होने वाली वायरल और बैक्टीरियाई बीमारियां भी कम घातक नहीं हैं. जीएम से पैदा होने वाले वायरस अन्य वायरसों के साथ मिलकर एचआईवी वायरस को पैदा कर सकते हैं. ऐसा गोभी में पाए जाने वाले वायरस सीएएमवी में देखा गया है. इसके अलावा मोंसेंटो के राउंडअप रेडी सोया, नोवारिस के बीटी मक्का और जीएम कपास तथा कनौला में भी ऐसा देखा गया है. यह हेपेटाइटिस बी और एचआईवी के वायरस की तरह होता है जो बड़े खतरे पैदा कर सकता है.

जैव-तकनीक उद्योग ने खास तौर पर मक्का और सोयाबीन को निशाना बनाया है क्योंकि इनका सबसे ज्यादा इस्तेमाल किया जाता है. अब अमेरिका में ज्यादातर सोयाबीन और एक-तिहाई मक्का जैव तकनीक कंपनियों के बनाए बीजों से पैदा किया जा रहा है.

बेकिंग और पेय उत्पादों का भी एक हिस्सा आनुवंशिक रूप से संशोधित है. अमेरिकी कपास का ज्यादातर हिस्सा जैव तकनीक से पैदा हो रहा है. आज स्थिति यह है कि अमेरिका में मिलने वाले तकरीबन दो-तिहाई खाद्य पदार्थों में जीएम रसायन मौजूद हैं और उद्योग जगत का दावा है कि चार साल के भीतर इसकी हिस्सेदारी नब्बे फीसदी तक पहुंच जाएगी.

अमेरिका में 1996 में लगभग 5000 एकड़ जमीन पर राउंडअप रेडी सोयाबीन बीजों की बुवाई की गई थी. राउंडअप मनुष्य और पर्यावरण दोनों के लिए ही जहर है. एक अध्ययन के अनुसार ग्लाईफॉस्फेट (राउंडअप का एक सक्रिय घटक) खेतिहर कामगारों में बीमारी का तीसरा सबसे बड़ा कारण रहा है. राउंडअप खाने से अब तक अमेरिका में कम से कम 14 लोग मर चुके हैं. एक चुटकी राउंडअप जान लेने के लिए काफी होता है.

जैव-तकनीक उद्योग ने खास तौर पर मक्का और सोयाबीन को निशाना बनाया है

जीएम भोजन के फैलने की मौजूदा रफ्तार को देखते हुए संभवत: पचास से सौ साल के भीतर आज के ज्यादातर जैविक खाद्य पदार्थ भी जैविक नहीं रह जाएंगे. पौधों में इस तरह के आनुवंशिक बदलाव किए जा रहे हैं जिससे उनके बीज दूसरे बीजों को पैदा करने के योग्य न रहें. जैव-विविधता के खत्म होते जाने से अंतत: खेती के लिए खतरा पैदा हो जाएगा.

इसके अतिरिक्त, खाद्य पदार्थों पर लेबल लगाने की बाध्यता खत्म हो जाने से अब यह जानने का अधिकार भी हमसे छीन लिया गया है कि हमारे भोजन में क्या-क्या मिला हुआ है. अगर जीएम आहार सौ फीसदी सुरक्षित हो, तो भी उपभोक्ता को यह जानने का अधिकार तो होना ही चाहिए कि उनमें कौन से तत्व आ रहे हैं. हम जो कुछ भी खा रहे हैं, हरेक चीज़ अब संदेह के घेरे में है.

दुनिया भर में अब तक सबसे खतरनाक तकनीक परमाणु हथियारों की मानी जाती रही है. ये हथियार मानव सभ्यता को विनाश की कगार पर पहुंचाने में सक्षम हैं. हम चाहें तो एटमी विनाश से बच सकते हैं या एटमी हथियारों को डिब्बों में बंद करके रख सकते हैं. लेकिन जीएम भोजन जो समस्याएं पैदा करते हैं, वे सारी दुनिया में फैल जाने में सक्षम हैं. उनसे प्रदूषण का जो सिलसिला शुरू होगा, तो उनको शायद कोई भी नहीं रोक पाएगा.

वंदना शिवा

अब हरा नहीं होगा वह तन

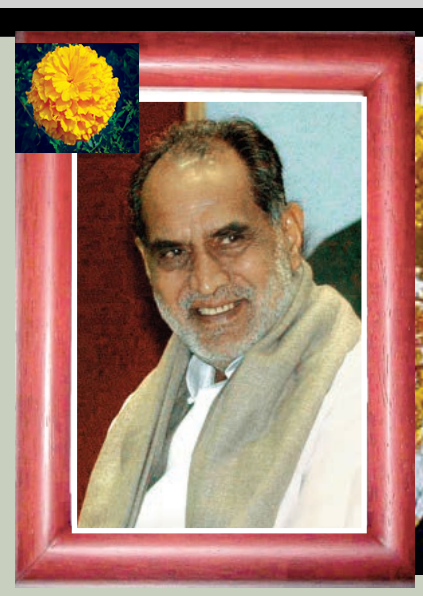

जब हम दोबारा आपके बीच हैं, तो ऐसे दो लोग हमारे बीच नहीं हैं जिन्हें होना चाहिए था. आम आदमी पर संकट के बादल गहरे हो गए हैं, और इस संकटकाल में जब नेतृत्व की तरफ ताकते हैं तो शून्य दिखाई देता है. ऐसे शून्य में जब पलट कर देखते हैं, तो नज़रें इन्हीं दो नामों पर टिकती हैं– वी पी सिंह और चंद्रशेखर. दोनों पूर्व प्रधानमंत्री. दोनों ही निजी स्तर पर भले ही दो विपरीत ध्रुवों पर खड़े दिखाई देते हों, लेकिन उनकी राजनीतिक प्रतिबद्धता का ध्रुव एक था. शायद इसीलिए वे अपनी पहली पारी में ज्यादा निष्पक्ष और साहसपूर्ण पत्रकारिता कर पाए, क्योंकि दोनों ही जैसे आम आदमी के हक की राजनीति करते रहे. चंद्रशेखर आखिरी वक्त तक संसदीय व्यवस्था में अपनी भूमिका निभाते रहे. गंभीर शारीरिक बीमारी के बावजूद वे लोकसभा की कार्यवाहियों में हिस्सा लेते रहे. लेकिन वह चिंतित भी थे. वह मानने लगे थे कि लोकतंत्र की बुनियाद भले ही मजबूत हो, लेकिन लोकतंत्र पर निहित स्वार्थी तत्व हावी होते जा रहे हैं.

सदन की कार्यवाही के गिरते स्तर पर वह चिंतित थे. अपनी निजी बातचीत से लेकर सार्वजनिक संबोधनों में भी उनकी यह चिंता साफ दिखती थी. भारत में साठ साल के लोकतंत्र की जब भी चर्चा होगी, चंद्रशेखर उसमें विराट व्यक्तित्व के रूप में मौजूद रहेंगे. संसदीय मर्यादाओं और राजनीति को जवाबदेह बनाने के उनके प्रयास अमिट निशान की तरह भारत के भूचित्र पर हमेशा मौजूद रहेंगे.

हालांकि वी पी सिंह संसदीय व्यवस्था के प्रति उतने आग्रही शायद नहीं रह गए थे. उन्होंने सार्वजनिक रूप से यह बात कभी नहीं कही, लेकिन आखिरी वक्त में जनांदोलनों के ज्वार उठाने की उनकी कोशिशों से यह संकेत मिल ही जाता है कि वह एक बार फिर आमूल राजनीतिक परिवर्तन चाहते थे. इस नई राजनीतिक लड़ाई के लिए वह किसानों और मजदूरों को जगाना चाहते थे. हफ्ते में तीन दिन डायलिसिस और शेष चार दिन यात्रा. जीवन के आखिरी वक्त में यह वीपी सिंह की दिनचर्या थी. जो लोग जानते हैं, वे जानते होंगे कि तमाम आधुनिक चिकित्सा सुविधाओं के बावजूद डायलिसिस एक पीड़ादायक प्रक्रिया है, लेकिन यह वी पी सिंह का जीवट था जो उन्होंने इस पीड़ादायक चिकित्सा को भी अपने रोजमर्रा के जीवन का हिस्सा बना लिया था. वह कहते थे, जब मालूम है कि यह रोग लाइलाज है और यह हमें एक निश्चित उम्र दे रहा है, तो इसे स्वीकार कर लेने में क्या हर्ज़ है? और उन्होंने स्वीकार कर लिया था.

आम तौर पर ऐसा समझा जाता है कि बार–बार सत्ता के शीर्ष पर पहुंचने की दौड़ लगाना ही राजनीति है, लेकिन उन्होंने इसको पूरी तरह से गलत साबित कर दिया. वह दलगत राजनीति से अलग हुए तो उन्होंने देश के सामने एक नए वीपी को रखा. आंदोलन की गर्द उड़ाकर देश में सत्ता के शिखर को बदल देने वाले वीपी को लोगों ने एक चित्रकार के रूप में देखा, एक कवि के रूप में पाया, मानो लोगों के लिए लड़ने वाले वीपी सिंह पहली बार अपने ही साथ आ गए हों. अपने आप को अभिव्यक्त करते हुए भी उन्होंने जन भावनाओं को जन आंदोलनों के जरिए पकड़ने की कोशिश की. एसईजेड के खिलाफ उनका अभियान रहा हो या झुग्गियां उजाड़े जाने के खिलाफ. राजा साहब हर जगह बीमार तन, लेकिन पूरे मन से खड़े रहे.

चंद्रशेखर और वी पी सिंह उस रूप में हमें कभी नहीं मिलेंगे. सृष्टि की नियमावली में चक्रीय जीवन व्यवस्था ही सनातन सत्य है. सृष्टि की यही व्यवस्था हमें आशा और संबल देती है कि वे हैं और हजार–हजार रूपों में हैं. हजार–हजार बोलियों में हैं. वे थे, हैं और रहेंगे सदैव हमारी यादों में, हमारी प्रेरणा बनकर.

चौथी दुनिया ब्यूरो

राहुल गांधी का यह कैसा दोस्त है

प्रजातंत्र की यदि खूबियां हैं,तो कुछ मजबूरियां भी.राजनीति में ऐसा कई बार होता है कि सच के सामने होते हुए भी उसे नज़रअंदाज़ करना पड़ता है.वोट की खातिर प्रजातंत्र में झूठ बोलने की भी छूट है.यही वजह है कि ब्रिटेन के विदेश मंत्री डेविड मिलिबैंड ने सफेद झूठ बोला.वह राजनीति और कूटनीति में अंतर नहीं कर सके. गलती उनकी भी नहीं.प्रजातंत्र के नाटक में कई बार इस तरह की विरोधाभासी भूमिकाएं भी निभानी पड़ती हैं.उन्होंने वही किया जिसका नमूना वोट की राजनीति के माहिर हमारे नेता अक्सर दिखाते रहते हैं. बात चाहे हिंदुओं को लुभाने के लिए भाजपाई दांव की करें या अल्पसंख्यकों को लुभाने के लिए सेकुलर नेताओं की कलाबाजी की. मिलिबैंड एक प्रजातांत्रिक देश के नुमाइंदे हैं. चुनाव उनके यहां भी होते हैं और वहां मुसलमान वोटर भी हैं. जाहिर है,उनको लुभाने के लिए मिलिबैंड को उलटबांसी भी करनी होगी.उनका कसूर केवल इतना था कि वह स्थितियों का विश्लेषण नहीं कर सके. उनको यह सामान्य सी बात समझ में नहीं आई,या उन्होंने इसका दिखावा किया कि घरेलू राजनीति का भोंपू विदेशी सरज़मीन पर नहीं बजता. वह घरेलू राजनीति के दबाव में आकर विदेशी कूटनीति के दलदल में फंस गए. मिलिबैंड ने साबित कर दिया कि वह अपनी कमअक्ली में लार्ड लिटनों और कर्जनों से भी कहीं आगे निकल गए हैं.उनका बयान न केवल भारत–इंग्लैंड संबंधों का मखौल उड़ा गया, बल्कि राष्ट्रकुल की राजनीति और कूटनीति का नया केरीकेचर भी बना गया. शायद,मिलिबैंड वोट बैंक को लुभाने के अतिउत्साह में अपने ही बयान की गंभीरता नहीं समझ पाए.

मुंबई आतंकी हमले को ब्रिटेन के विदेश मंत्री डेविड मिलिबैंड ने जब कश्मीर से जोड़ा तो कई लोग नाराज़ हो गए. नाराज़गी की वजह यह भी थी कि उन्होंने अपने भारत दौरे पर अच्छा खासा वक्त राहुल गांधी के साथ गुजारा. दोनों ने एक साथ अमेठी का दौरा किया.भारत में गरीबों की हालत क्या है,यह जानने की कोशिश की. दोनों की दोस्ती देखकर लोगों को लगा कि राहुल गांधी सचमुच एक परिपक्व राजनेता की तरह उभर रहे हैं. अमेठी दौरे के कुछ ही घंटे बाद लोगों का मुग़ालता खत्म हो गया. मिलिबैंड ने अपने बयान से लोगों को चौंका दिया. ऐसा नहीं हो सकता है कि राहुल गांधी और मिलिबैंड ने आतंकवाद, मुंबई की घटना या भारत पाकिस्तान के रिश्ते के बारे में बातचीत नहीं की होगी. अगर इन मसलों पर बातचीत हुई तो क्या राहुल गांधी मिलिबैंड की सोच को समझ नहीं सके. क्या राहुल गांधी मिलिबैंड को भारतीय पक्ष समझाने में असफल रहे. अगर दोनों ने इन मसलों पर बातचीत नहीं की तो स्थिति और भी शर्मनाक है. क्या राहुल गांधी और मिलिबैंड की दोस्ती लंदन के किसी बार में होने वाली दोस्ती भर है? राहुल गांधी को मिलिबैंड के बयान से जोड़कर देखना इसलिए भी ज़रूरी है क्योंकि देश में ऐसे कई लोग हैं जो राहुल को एक भावी प्रधानमंत्री के रुप में देखते हैं. दोनों की दोस्ती के बावजूद मिलिबैंड ने भारत की जमीन पर आकर वो बयान दिया जो पाकिस्तान के उग्रवादी संगठन देते हैं. भारत के लोग यह समझ नहीं सके कि आखिर मिलीबैंड के बयान के पीछे तर्क क्या है?

सबसे हैरानी की बात यह है कि किसी आतंकवादी संगठन ने मुंबई के आतंकी हमले को कश्मीर से नहीं जोड़ा. ये सिर्फ मिलिबैंड के ही दिमाग में आया कि मुंबई हमले का रिश्ता कश्मीर से है. मिलिबैंड ने जिस तरह लश्कर–ए–तैय्यबा को सही बताने की कोशिश की, वह चौंकाने वाला है. उनकी एक मजबूरी है. वह जिस देश से आते हैं वहां चुनाव होते हैं. उनकी पार्टी को वोट की जरूरत होती है. लेकिन ब्रिटेन के इस विदेश मंत्री को याद नहीं रहा कि मुंबई मे हुए हमले के निशाने पर सिर्फ भारतीय नहीं थे. इस हमले में बारह यूरोपीय नागरिक भी मारे गए.

पाकिस्तानी आतंकियों द्वारा 138 भारतीयों और 25 विदेशी नागरिकों की निर्मम हत्या पर मिलिबैंड ने जिस तरह का घालमेल किया, वह उन लोगों के लिए हैरतअंगेज़ और चौंकाने वाला नहीं होना चाहिए, जो ब्रिटेन में पाकिस्तानी कब्जे वाले कश्मीर के मीरपुरी प्रवासियों और ब्रिटिश खुफिया विभाग के गठबंधन और कुछ चुनाव–क्षेत्रों में उनके महत्व से वाकिफ़ हैं. ये चुनावी क्षेत्र अक्सर लेबर प्रत्याशियों को हाउस ऑफ कामन्स में भेजते हैं. पाकिस्तान और अफगानिस्तान के बाद ब्रिटेन ही पारंपरिक तौर पर विदेशी आतंकियों और उग्रवादियों की सबसे बड़ी आरामगाह बना हुआ है. कोई भी, जो आतंक की दुनिया से जुड़ा हुआ है, उसे ब्रिटेन में मजबूत आधार मिलता रहा है. चाहे वह पूर्व खालिस्तानी हों,लिट्टे के चीते हों, पाक शासित कश्मीर के मीरपुरी हों, चेचेन विद्रोही हों,अल मुहाजिरीन हों या फिर हिजबुल तहरीर वाले हों. ब्रिटेन के खुफिया विभाग को यह जानकारी नहीं कि उन्होंने बेरोकटोक अपनी धरती पर आतंकियों और उग्रवादियों के इस तरह के गठजोड़ को पनपने की छूट देकर न जाने कितने ही आतंकियों और आतंकी संगठनों को सक्रिय होने का खुला आमंत्रण दे दिया है.

पाकिस्तान से आए मुसलमान, ब्रिटेन और अमेरिका में इस उपमहाद्वीप से गए सबसे बड़ी मुस्लिम आबादी का प्रतिनिधित्व करते हैं.इसके बाद ही भारत और बांग्लादेश का स्थान आता है. ब्रिटेन में पाकिस्तानी मूल के करीब 7000 लोग रहते हैं, जिसमें अधिक संख्या पंजाबी बोलनेवालों की है. इसमें पाकिस्तान के पंजाब से आए प्रवासियों के अलावा पाक शासित कश्मीर के लोग भी हैं. पाक शासित कश्मीर से आनेवाले लोगों को मीरपुरी कहा जाता है. ये मूल रूप से कश्मीरी नहीं है, बल्कि पंजाबी बोलने वाले प्रवासी हैं, जो पीढ़ियों से पाक शासित कश्मीर के मीरपुर इलाके में रह रहे हैं. ये लोग मूल रूप से छोटे किसान और भूमिहीन मजदूर थे, जिन्होंने मंगला बांध बनने की वजह से अपनी आजीविका खो दी. इसके बाद उन्होंने पश्चिमी यूरोप की तरफ अपना रुख किया. सबसे अधिक संख्या में इन्होंने ब्रिटेन को अपना ठिकाना बनाया क्योंकि यहां पाकिस्तानी पंजाब से गए पंजाबी बोलने वाले मुसलमान खासी संख्या में थे.

ब्रिटेन में पाकिस्तानी मूल के मुसलमानों के बढ़ने के साथ ही उनकी धार्मिक जरूरतों को पूरा करने के लिए मस्जिदें भी बढ़ीं. 1977 तक इन मस्जिदों की व्यवस्था अधिक सहिष्णु बरेलवी मत के मौलाना करते थे. जब जिया–उल–हक (समर्पित देवबंदी)ने पाकिस्तान की सत्ता पर कब्जा किया,तो न केवल उसने पाकिस्तान में बरेलवी मत के मौलानाओं का प्रभाव कम किया, बल्कि यूरोप में भी कट्टर देवबंदी विचारधारा को बढ़ावा दिया.

अमेरिका और ब्रिटेन की खुफियां एजेंसियां जिया की पाकिस्तानी मुसलमानों के अरबीकरण या वहाबीकरण की नीति के साथ चलीं, क्योंकि इससे अफगानिस्तान में सोवियत फौजों से लड़ने में जिहादियों संख्या बढ़ाने में मदद मिलती थी. 1983 में बर्मिंघम में भारतीय उच्चायोग में कार्यरत भारतीय राजनयिक रवि म्हात्रे को जिहादियों के एक समूह ने अगवा कर लिया. उन्होंने रवि म्हात्रे के बदले जेकेएलएफ (जम्मू एंड कश्मीर लिबरेशन फ्रंट) के नेता मकबूल बट की रिहाई की मांग की, जो उस वक्त हत्या का दोषी सिद्ध होकर तिहाड़ जेल में फांसी का इंतजार कर रहा था. भारत ने जब उनकी मांग मानने से इनकार कर दिया, तो आतंकियों ने म्हात्रे की हत्या कर उसकी लाश किसी गली में फेंक दी. अपहरण और हत्या की यह साजिश कथित तौर पर अमानुल्ला खान ने रची, जो पाकिस्तान के गिलगित का रहने वाला था. उसकी मदद कुछ मीरपुरियों ने की थी. ब्रिटिश सरकार ने भारत के साथ जांच में सहयोग नहीं किया और अपहरण और हत्या की इस साजिश में शामिल अपराधियों को भारत को सौंपने से भी मना कर दिया. अपने इलाके से हो रही मीरपुरी लोगों की साजिश की अनदेखी कर ब्रिटिश सरकार ने प्रवासियों को और कट्टर बनाने में सहयोग ही किया.

अफगानिस्तान में अमेरिकी–ब्रिटिश एजेंडे को जैसे पाकिस्तानी मूल के मुसलमानों खासकर मीरपुरी लोगों के कट्टरपंथी बनने से फायदा मिला, उसी तरह ब्रिटेन के स्वार्थ को 1990 में युगोस्लाविया के बालकनीकरण में भी इस बात से बल मिला. ब्रिटेन के कई पाकिस्तानी हरकत–उल–अंसार (हरकत–उल–मुजाहिदीन)और लश्कर–ए–तैय्यबा के पाकिस्तान में चल रहे शिविरों में चले गए. यह सब कुछ ब्रिटेन की जानकारी में हुआ,लेकिन उन्होंने जान–बूझ कर अपनी आंखें बंद रखीं.

ब्रिटेन मे पैदा हुए जिहादी भस्मासुरों का सबसे बड़ा उदाहरण उमर शेख है. बोस्निया से लौटकर वह भारत में जिहाद करने आया और भारतीय सुरक्षाबलों ने उसे गिरफ्तार कर लिया. जब हरकत–उल–मुजाहिदीन के आतंकी इंडियन एयरलाइंस के विमान का अपहरण कर कंधार ले गए तो उसे रिहा कर दिया गया.

रिहाई के बाद वह पाकिस्तान गया और वहीं पत्रकार डेनियल पर्ल के अपहरण और हत्या की साजिश रची. दूसरा अहम उदाहरण राशिद रउफ का है. वह मीरपुर का रहने वाला था, जो ब्रिटेन से पाकिस्तान जैश–ए–मोहम्मद में शामिल होने गया था. उसकी शादी जैश के मुखिया मौलाना मसूद अजहर के रिश्तेदार से हुई थी.

उस पर 2006 में अमेरिका जाने वाले कई जहाजों को उड़ाने की साजिश रचने का आरोप था. इसका खुलासा लंदन की पुलिस ने किया था. यह साजिश ब्रिटेन में रहने वाले पाकिस्तानी मूल के कई लोगों ने रची थी. अभी हाल ही में रउफ की मौत तब हो गई, जब अमेरिका ने पाकिस्तान की सीमा वाले इलाकों में हवाई हमला किया.

जम्मू–कश्मीर और भारत के अलग–अलग हिस्सों में 1993 के बाद से जारी जिहादी आतंकवाद में मीरपुरियों ने बढ़–चढ़ कर हिस्सा लिया. ब्रिटिश खुफिया विभाग प्रवासी पाकिस्तानियों के प्रशिक्षण के लिए जाने की बात जानता था, लेकिन उसने आंखें इसलिए मूंद कर रखीं क्योंकि उसके हिसाब से ये लोग जम्मू–कश्मीर में भारतीयों के खिलाफ जिहाद करने जा रहे थे. ब्रिटेन की खुफिया एजेंसी को लंदन धमाकों के बाद ही यह बात समझ में आई कि मीरपुरियों ने ब्रिटिश सत्ता के खिलाफ जिहाद शुरु कर दिया है.

आज, निर्दोष ब्रिटिश नागरिक अपने आकाओं के किए का फल भोग रहे हैं. ब्रिटेन की हालत यह है कि इसके खुफिया विभाग को भी इस बात का अंदाजा नहीं है कि उनके देश में कितने प्रशिक्षित पाकिस्तानी जिहादी मौजूद हैं, जो मौके का इंतज़ार कर रहे हैं.

मिलिबैंड की चिंता यही है कि ये उस देश के विदेश मंत्री हैं जो अब तक दुनिया भर के तमाम आंतकवादी संगठनों का पनाहगार रहा है. राहुल गांधी ने अगर मिलिबैंड को यह बताया होता कि जिस आतंकवाद से भारत, पाकिस्तान और पूरी दुनिया जूझ रही है, उसमें ब्रिटेन की भी भूमिका है.

राहुल ने अगर पलट कर यह जबाव दिया होता कि मुंबई हमले में भारतीय और यूरोपी नागरिकों की मौत की वजह इतिहास में की गई ब्रिटेन की भूल है,तो हमें फख्र होता.

ऐसा नहीं हो सकता है कि राहुल गांधी और मिलिबैंड ने आतंकवाद, मुंबई की घटना या भारत पाकिस्तान के रिश्ते के बारे में बातचीत नहीं की होगी. अगर इन मसलों पर बातचीत हुई तो क्या राहुल गांधी मिलिबैंड की सोच को समझ नहीं सके. क्या राहुल गांधी मिलिबैंड को भारतीय पक्ष समझाने में असफल रहे. अगर दोनों ने इन मसलों पर बातचीत नहीं की तो स्थिति और भी शर्मनाक है.

चौथी दुनिया ब्यूरो

मार्च के बाद होंगे एक करोड़ बेरोज़गार

और यही समय लोकसभा चुनाव का है

प्रयाग अकबर

भारत का निर्यात-क्षेत्र नए वित्तीय वर्ष की शुरुआत के साथ ही अपने सबसे बड़े संकट को झेलने वाला है. उद्योगपतियों का मुनाफा तो घट सकता है, लेकिन वे इस मंदी को झेल पाने में शायद सक्षम होंगे. तलवार लटक रही है एक करोड़ श्रमिकों पर छंटनी और बेरोजगारी की, जो मार्च के बाद दर-बदर हो जाएंगे. क्या वे अपनी मजदूरी के बिना जी सकते हैं, जो पहले ही न्यूनतम स्तर पर पहुंच चुकी है? भारत के निर्यात-क्षेत्र में लगभग पंद्रह करोड़ लोग काम करते हैं और कृषि के बाद निर्यात ही सबसे अधिक लोगों को रोजगार देता है.इन्हीं लोगों की आजीविका अब खतरे में है.

जिस तरह से दुनिया भर के बैंक दिवालिया हो रहे हैं और बड़े कॉरपोरेट घरानों ने अपने बजट में कटौती की है, कई औद्योगिक विश्लेषकों का मानना है कि इसका असली असर भारत के निर्यात क्षेत्र पर मार्च के बाद नज़र आएगा, जब मौजूदा अनुबंधों की अवधि समाप्त हो जाएगी. वाणिज्य मंत्रालय के एक सर्वेक्षण के मुताबिक केवल जनवरी में निर्यात क्षेत्र के बहुराष्ट्रीय अनुबंधों में 22 फीसदी की गिरावट आई है. मार्च के बाद निर्यात के कई क्षेत्रों, जैसे कपड़ा, चमड़ा और आभूषण उद्योग में नौकरियां कम हो जाएंगी. सूचना-प्रौद्योगिकी जैसे पूंजी सघन क्षेत्रों में भी नौकरियां जाएंगी. इनकी चपेट में इंफोसिस और टाटा कंसल्टेंसी सर्विसेज जैसी अग्रणी कंपनियां भी आ जाएंगी.

एशिया की दूसरी अर्थव्यवस्थाओं, जैसे सिंगापुर, मलेशिया और चीन (जो उपमहाद्वीप में भारत का सबसे मजबूत प्रतिद्वंद्वी है) के मुकाबले निर्यात के मामले में भारत काफी पीछे है, फिर भी भारत का निर्यात सकल घरेलू उत्पाद का 20 फीसदी है. देश के गरीबों को सबसे अधिक रोजगार देने वाले क्षेत्रों में भी इसकी गिनती होती है. कोलकाता, कानपुर और चेन्नई में चमड़े का काम करने वाले, राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र, तिरुपुर और नवी मुंबई के कपड़ा बनाने वाले या गुजरात के हीरा काटने वालों की बात करें, तो सभी क्षेत्रों में काफी अधिक रोजगार हैं. अक्टूबर 2008 से ही भारत के निर्यात में कमी आई है. अक्टूबर में इसमें 12.1 फीसदी की कमी आई, तो नवंबर में 9.9 फीसदी कमी आई. जनवरी में तो निर्यात में 22 फीसदी की कमी आ गई. यह 1991 में भारत के अपनी अर्थव्यवस्था को उदार बनाने के बाद किसी एक महीने में आई सबसे बड़ी कमी थी. पूरे निर्यात-क्षेत्र में इसे लेकर आशंका फैली हुई है कि आगे क्या होगा.

जिस तरह से दुनिया भर के बैंक दिवालिया हो रहे हैं और बड़े कॉरपोरेट घरानों ने अपने बजट में कटौती की है, कई औद्योगिक विश्लेषकों का मानना है कि इसका असली असर भारत के निर्यात क्षेत्र पर मार्च के बाद नज़र आएगा.

फेडरेशन ऑफ इंडियन एक्सपोर्ट ऑर्गेनाइजेशन (फियो) ने भारतीय निर्यातकों के संकट पर गहराई से अध्ययन किया है. संस्था के निदेशक आनंद सेठ ने बातचीत में कहा, 'हम पहले से ही जानते हैं कि मार्च 2009 में पूरे देश में एक करोड़ नौकरियां जाएंगी. बात चाहे स्थायी नौकरी की करें या अनुबंध आधारित रोजगार की. मार्च तक चूंकि निर्यात के ठेके मिलते हैं, इसलिए हमें उसके बाद नौकरियों में कमी की आशंका है. नए ठेके अगर नहीं मिले, तो आगामी महीनों में 10 फीसदी नौकरियां जा सकती हैं.' इस साल के लिए हमारा संभावित लक्ष्य 200 अरब डॉलर के व्यापार का है, हालांकि यह 160 अरब डॉलर तक आने की आशंका है. जो नौकरियां पहले ही जा चुकी हैं, उनके अलावा हमें उन नौकरियों के बारे में भी सोचना चाहिए जो निर्यात की हालत दुरुस्त रहने पर पैदा होतीं. बेहतर हालात में कम से कम 30 लाख ज्यादा नौकरियां सृजित हो सकती थीं. हमेशा की तरह वे क्षेत्र खासे प्रभावित हुए हैं, जो मजदूरों पर निर्भर हैं. गरीब ही अपनी नौकरियां गंवाएंगे.

सेठ यह भी बताते हैं कि इस समय सरकार का कुछ न करना ही निर्यात के मामले में भारतीय कंपनियों को काफी नुकसान पहुंचा रहा है. वह कहते हैं कि दो कदम उठाने जरूरी हैं. चीन ने निर्यातकों के लिए कर में 15 फीसदी की छूट दी है. भारत को भी तुरंत ऐसा ही कुछ करने की जरूरत है. दूसरी बात, उद्योग जगत की मदद के लिए भी उत्पाद शुल्क में भी छूट देनी होगी.

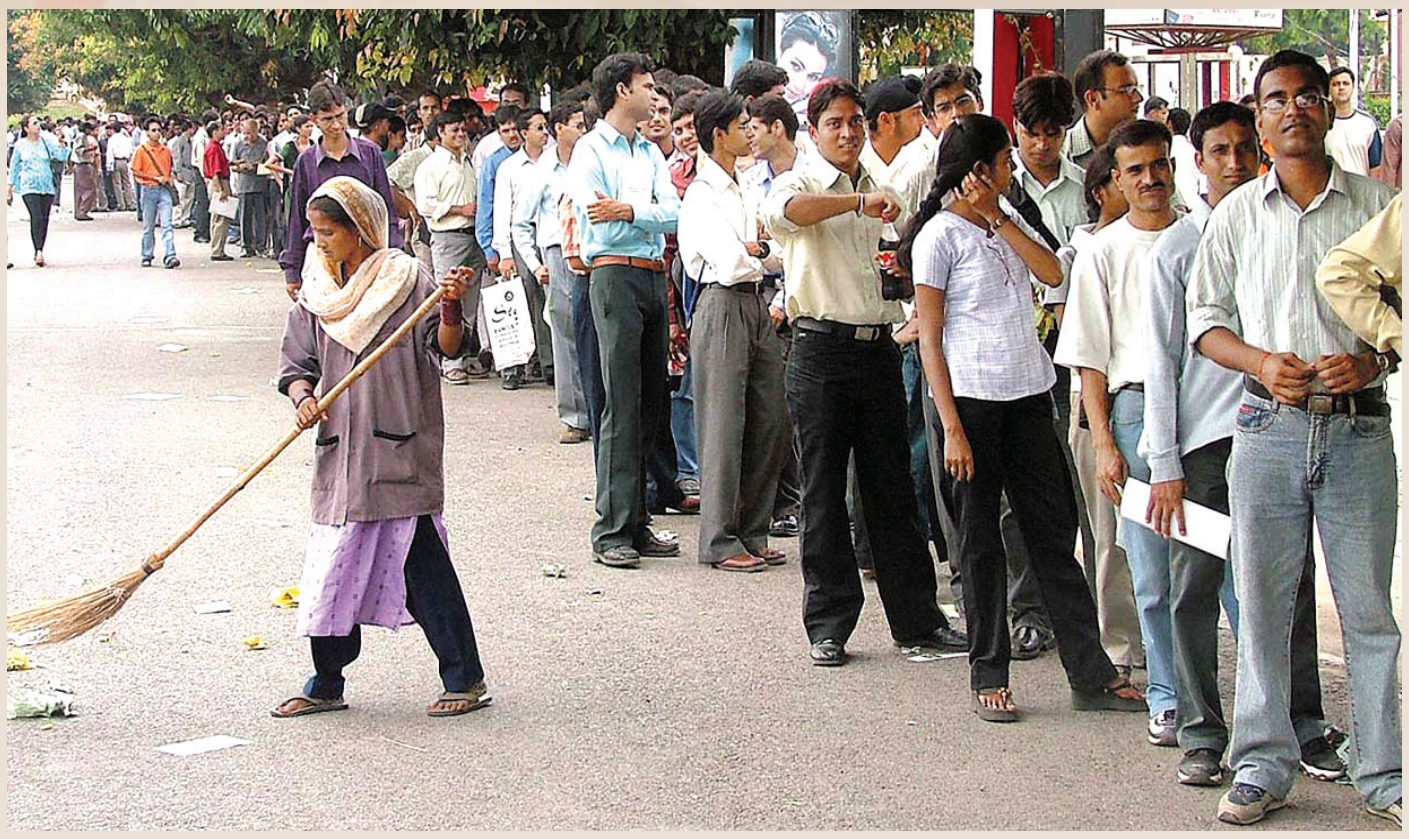

कपड़ों का निर्यात

नई दिल्ली में एक बड़े निर्यातक (जो अमेरिका के डिपार्टमेंटल स्टोर को शर्ट और पैंट का निर्यात करते हैं) ने अनौपचारिक बातचीत में हालात का विश्लेषण काफी कठोर तरीके से किया. उन्होंने अपना नाम प्रकाशित न करने का अनुरोध करते हुए बताया, 'मैं आपको ईमानदारी से बताउं, मार्च के बाद मैं अपने 80 फीसदी कर्मचारियों को निकालने वाला हूं. मैं इस संबंध में कुछ नहीं कर सकता हूं. निर्यात के ठेके काफी कम मिल रहे हैं और इसी वजह से मैं निर्यात का धंधा ही बंद करने वाला हूं. मैं अपनी फैक्ट्री की जमीन भी किराए पर देने वाला हूं. इससे मुझे काफी मुनाफा होगा.'

पांच फरवरी को कपड़ों के निर्यात से जुड़ी अग्रणी संस्था अपैरल एक्सपोर्ट प्रमोशन काउंसिल (एपेक) के शीर्ष अधिकारियों ने योजना आयोग के उपाध्यक्ष मोंटेक सिंह अहलुवालिया से नई दिल्ली में उनके कार्यालय में मुलाकात की. योजना आयोग के उपाध्यक्ष को इन अधिकारियों ने कई ऐसे सुझाव दिए, जो उद्योगों की हालत सुधार सकें. यह मौजूदा दौर की सबसे बड़ी जरूरत है. दूसरे उपायों के अलावा अधिकारियों ने योजना आयोग से फ्रिंज बेनिफिट टैक्स में छूट देने की भी अपील की. यह लाभ सूचना-प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में पहले से ही मुहैया है. साथ ही, सरकार को मशीनों में निवेश करने के लिए ब्याज मुक्त कर्ज मुहैया कराने, पूंजीगत माल के आयात पर शुल्क समाप्त करने और राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी योजना के फंड के एक हिस्से को वस्त्र-उद्योग के लिए ही मुहैया कराने की भी अपील की.

एपेक के अध्यक्ष राकेश वैद ने हमें कपड़ा-निर्यात के क्षेत्र में आने वाले रोजगार संकट के बारे में विस्तार से बताया. वह जोर देकर कहते हैं, 'इस उद्योग में पहले ही हम पांच लाख नौकरियां गंवा चुके हैं. यह तो केवल शुरुआत है क्योंकि अधिकतर निर्यातकों के पास मार्च तक के ऑर्डर हैं. हालांकि नए ठेके मिलने में काफी कमी आई है. एक अप्रैल तक हमारे अनुमान के मुताबिक पूरे देश में 15 लाख लोग बेरोजगार होंगे. यह आंकड़ा बढ़ भी सकता है.'

सवाल यह है कि केंद्र सरकार अब ऐसे कौन से कदम उठाएगी जिससे इतनी बड़ी संख्या में लोगों की नौकरियां न छिनें, वे कमाई के नियमित स्रोत से वंचित न रह जाएं, खासकर अभी के आर्थिक माहौल में ऐसा दिखता है कि कोई भी उद्योग नए लोगों को रोजगार तो नहीं ही दे पाएगा. राकेश वैद बताते हैं कि उन्होंने सरकार से औद्योगिक मूल्यों के मामले में और अधिकार देने की अपील की है. साथ ही कड़े श्रम कानूनों को तर्कसंगत बनाने और उद्योगपतियों को ऐसी योजनाओं में निवेश की छूट देने को भी कहा है जहां मजदूरी को उत्पादकता से जोड़ा जा सके.

सूचना प्रौद्योगिकी

भारतीय उद्योग-जगत के सबसे दुलारे पूत सूचना-प्रौद्योगिकी की आखिर क्या हालत है? भारत में बीपीओ कंपनियों ने सूचना-प्रौद्योगिकी की क्रांति की शुरुआत की थी. मंदी का उन पर प्रभाव तो पड़ा है, पर वह शायद बचे रह जाएं, चूंकि वे अपनी सेवाएं उस लागत पर मुहैया करा सकती हैं जिसे पश्चिमी कंपनियां वहन कर सकें. हालांकि अब सूचना-प्रौद्योगिकी में उनका वर्चस्व उस तरह का नहीं रहा, जैसा पहले कभी था. हमारा सूचना-प्रौद्योगिकी उद्योग अपनी सेवाएं पूरी दुनिया को देता है. टीसीएस और इंफोसिस जैसी कंपनियों के ग्राहकों में सिटीग्रुप, फरारी, अमेरिकन एक्सप्रेस और दुनिया के कई बड़े समूह शामिल हैं.

सूचना-प्रौद्योगिकी जगत के प्रतिनिधि संगठन नैस्कॉम ने हाल ही में मार्च 2009 तक विकास के अनुमान को पांच से सात फीसदी कम किया है. ऐसा वैश्विक अर्थव्यवस्था में अनपेक्षित विरोधाभासों की वजह से हुआ है. सूचना-प्रौद्योगिकी का बजट अब काटा-छांटा जा रहा है और अनावश्यक खर्चों को पूरी दुनिया में कम किया जा रहा है. हमारे सॉफ्टवेयर और सूचना क्रांति के विशेषज्ञों को भी नुकसान सहना पड़ रहा है, चूंकि मांग भी कम हो रही है. गिल्डसॉफ्ट के अध्यक्ष प्रियदास बताते हैं, 'सूचना-प्रौद्योगिकी के इस मौजूदा संकट के दीर्घकालीन प्रभाव उससे भी गहरे होंगे, जितने 2001 में डॉटकॉम का बुलबुला फूटने पर पैदा हुए थे. मेरे सबसे बड़े क्लाइंट पैनासॉनिक का कुछ दिन पहले संदेश आया कि उनकी 1.1 अरब डॉलर की राशि डूबने वाली है. इसे सुनने के बाद भला मैं कैसे उम्मीद करूं कि वे मार्च के बाद मेरा अनुबंध आगे बढ़ाएंगे?

जिस तरह उद्योगों में खर्चों में कटौती की जा रही है, माना जा रहा है कि और बड़े पैमाने पर नौकरियां जाएंगी. अमेरिकन एक्सप्रेस के एक वित्तीय प्रबंधक ने अपनी पहचान जाहिर न करने की शर्त पर बताया कि वह अपने यहां आईटी कंपनियों पर किए जाने वाले खर्च में कमी ला रहे हैं क्योंकि छंटनी करने के बजाय लागत कटौती का यह रास्ता आसान है. उन्होंने कहा, 'बैंक और अन्य वित्तीय संस्थान आम तौर पर आईटी परामर्शदाताओं की सेवाएं लेते हैं, लेकिन मुश्किल दौर में इस तरह के खर्च पर कैंची चलाई जा सकती है. वजह यह है कि ऐसे खर्चे कंपनी की इच्छा पर निर्भर करते हैं. पिछले साल हमने टीसीएस को 10.4 करोड़ डॉलर का भुगतान किया. इसके अलावा एक्सेंचर को 10 करोड़ डॉलर और इंफोसिस को 7.8 करोड़ डॉलर दिए गए. इस साल हम टीसीएस को साढ़े चार करोड़ डॉलर, इंफोसिस को चार करोड़ डॉलर और एक्सेंचर को उसकी सेवाओं के इस्तेमाल के हिसाब से धन का भुगतान कर रहे हैं.' इन अग्रणी आईटी कंपनियों की सेवाओं की मांग घटने से यह तय है कि निर्यात राजस्व में बड़ी गिरावट आएगी.

मार्च के ठीक बाद आम चुनाव होने वाले हैं. यही वह समय है, जब हालात के सबसे ज्यादा खराब हो जाने की आशंका है. जाहिर है, सरकार को इन हालात से बचने के लिए समझदारी भरे कदम उठाने होंगे ताकि वह खुद को भी छंटनी से बचा सके.

सत्यम - कांड के बाद दिवालिया होने संबंधी कानूनों की जरूरत बढ़ी

सत्यम-कांड के बाद यह बात तो बिल्कुल साफ हो गई है कि भारत में दिवालिया घोषित होने संबंधी ऐसी घटनाओं से निपटने के कानून की सख्त जरूरत है. सत्यम के संकट से निपटने के लिए सरकार ने संतुलित और सुरक्षित प्रतिक्रिया देने की कोशिश की, पर बड़े निगमों के कई शेयरधारकों, ग्राहकों और वितरकों को सरकार का इंतजार किए बगैर सही कदम उठाना चाहिए था. अमेरिका की तरह भारत में भी दिवालिया होने संबंधी कानून होने चाहिए, जो बड़े निगमों को उनके अस्तित्व के लिए जरूरी सहायता मुहैया कराते हैं.

डॉलर की मजबूती से फायदा

निर्यातकों को रुपए के कमजोर होने से फायदा होगा क्योंकि रुपए में गिरावट से उनके उत्पादों और सेवाओं का मूल्य डॉलर में गिरेगा जिससे मांग में बढ़ोतरी होगी.

आडवाणी की नियति है कि वे सूरज बनकर चमक नहीं सकते

सिद्धांतों, आस्थाओं और जीवन मूल्यों से समझौता न करते हुए भी राजनीति में जमे रहने वाले कुछ गिने-चुने लोगों की सूची में एक नाम लालकृष्ण आडवाणी का भी है. राजनीति में सज्जन व्यक्तियों की सीमाओं को समझने के लिए भी लालकृष्ण आडवाणी उत्कृष्ट उदाहरण हैं. लेकिन मौजूदा राजनीतिक हालात में आडवाणी की नियति यही है कि ऐसे लोग अंधेरे में दीप बनकर आशा का संचार तो कर सकते हैं, लेकिन वे सूरज बनकर दुनिया को चकाचौंध नहीं कर सकते. प्रस्तुत है 27 मार्च 1988 को चौथी दुनिया में प्रकाशित प्रबाल मैत्र का जायजा, जस का तस.

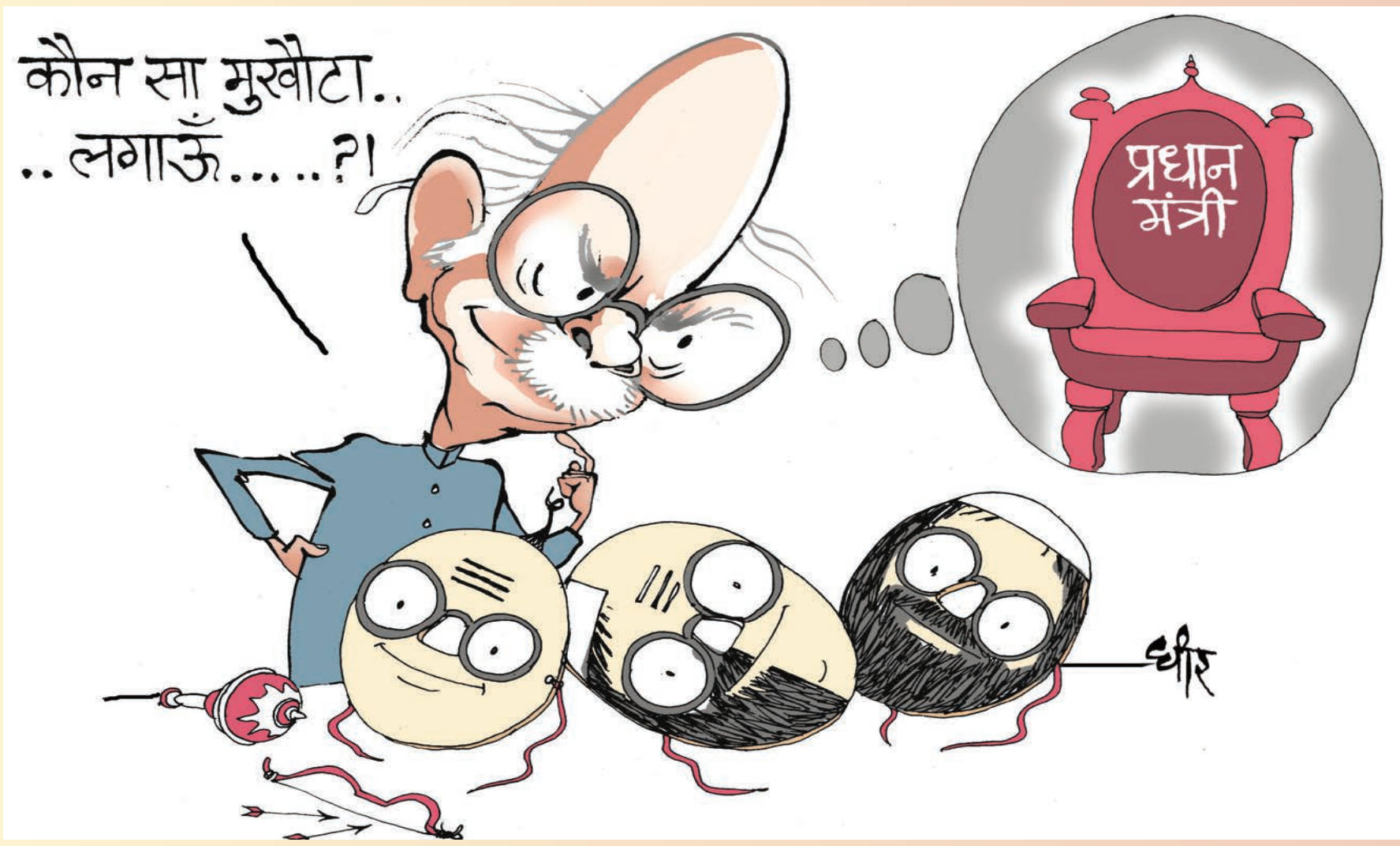

हैदराबाद, सिंध (जो अब पाकिस्तान में है) में जन्मे लालकृष्ण आडवाणी का सार्वजनिक जीवन राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के रास्ते आरंभ हुआ. कराची के सेंट पैट्रिक स्कूल से मैट्रिकुलेशन पास करने के बाद वह उच्च शिक्षा के लिए हैदराबाद, सिंध के डी.जी. नेशनल कॉलेज में पढ़ने गए. वहीं आडवाणी का संबंध राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से हुआ, जिसका काम अभी वहां शुरू ही हुआ था. आडवाणी उसमें ऐसे रमे कि कराची में इंजीनियरिंग की पढ़ाई में सार्वजनिक कार्य के लिए उन्हें समय कम मिलता. 1947 में जब भारत का विभाजन हुआ, तब तक वह कराची नगर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के कार्यवाहक (सचिव) बन चुके थे.

विभाजन के बाद आडवाणी का परिवार भारत आ कर कांडला (गुजरात) में बस गया और वह राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के पूर्णकालिक कार्यकर्ता बन गए. 1947 से 1951 तक संघ के प्रचारक के रूप में उन्होंने राजस्थान के अलवर, कोटा, भरतपुर, बूंदी और झालावाड़ आदि क्षेत्रों में काम किया. 1952 में जब भारतीय जनसंघ की स्थापना हुई, तो आडवाणी उसमें शामिल हो गए. वह राजस्थान प्रदेश जनसंघ के मंत्री बनाए गए और उन्हें राजस्थान विधानसभा में जनसंघ विधायक दल के कार्यालय को संभालने की जिम्मेदारी सौंपी गई. जनसंघ के आरंभिक दिनों में यह खासा महत्वपूर्ण दायित्व था. दल उस समय आरंभ ही हुआ था और उसके ज्यादातर सदस्य-विधायक भी संसदीय प्रणाली से अनभिज्ञ थे. चूंकि विधायकों को काफी समय अपने क्षेत्रों में बिताना पड़ता था, इसलिए विधानसभा के लिए उनको तैयार करने का काम भी आडवाणी को ही करना पड़ता था. लिहाजा स्वयं विधायक न होते हुए भी उन्हें उसी समय से संसदीय कार्यप्रणाली की बारीकियों में निष्णात बनना पड़ा. आज लोग राज्यसभा में जिस आडवाणी को मुग्ध होकर सुनते है, उसकी नींव तीन दशक पहले ही पड़ गई थी.

आडवाणी की इस योग्यता से प्रभावित होकर ही जनसंघ नेतृत्व ने 1958 में उन्हें दिल्ली लाकर अपने संसदीय कार्यलय का उत्तरदायित्व सौंपा. इस बार जनसंघ के कई नेता पहली बार लोकसभा में चुन कर आए थे. इनमें आडवाणी के ही हमउम्र अटल बिहारी वाजपेयी भी थे. उस समय संसद में सत्ता पक्ष और अन्य विरोधी दलों में अनुभवी सांसदों की कमी नहीं थी. ऐसी स्थिति में जनसंघ की मौजूदगी का अहसास कराने के लिए जरूरी था कि उसके सदस्य अच्छी तैयारी कर के बोलें. आडवाणी के जिम्मे अपने दल के सांसदों की तैयारी कराने का काम था और उसमें उन्हें सफलता भी मिली. वाजपेयी ने पहली बार ही लोकसभा में जिस योग्यता का परिचय दिया, उसके पीछे आडवाणी का अवदान कम नहीं था. इस दौरान उन्होंने दिल्ली प्रदेश जनसंघ के मंत्री का दायित्व भी संभाला.

इस बीच आडवाणी ने पूर्णकालिक कार्यकर्ता का जीवन छोड़ कर पारिवारिक जीवन में प्रवेश करने का फैसला किया. पेशे के रूप में उन्होंने पत्रकारिता को चुना और अंग्रेजी साप्ताहिक ऑर्गनाइजर के संपादक बने. अपनी क्षमता का परिचय उन्होंने 1965 में दिया, जब उन्होंने डॉ. होमी भाभा से सवाल पूछ कर यह जवाब निकलवा लिया कि अगर भारत सरकार एटम बम बनाने का फैसला करे, तो वह दो साल में पंद्रह लाख रुपए प्रति बम की लागत से तैयार हो सकता है. ऑर्गनाइजर में उनके दो स्तंभ दिल्ली डायरी और पेरिस्कोप तत्काल लोकप्रिय हो गए थे. अब भी लालकृष्ण आडवाणी उन गिने-चुने राजनीतिक नेताओं में हैं जिन्हें व्यावसायिक तौर पर निकलने वाली पत्र-पत्रिकाएं लिखने के लिए आमंत्रित करती हैं और आडवाणी अपनी राजनीतिक व्यस्तताओं के बावजूद उनके लिए समय भी निकालते हैं.

1965 से 1967 तक आडवाणी दिल्ली प्रदेश जनसंघ के उपाध्यक्ष रहे. 1966-67 में वह दिल्ली की अंतरिम महानगर परिषद में जनसंघ दल के नेता थे. 1967 में जब दिल्ली महानगर परिषद के चुनाव में जनसंघ को बहुमत मिला, तो वह महानगर परिषद के अध्यक्ष निर्वाचित हुए. सदन के पीठासीन अधिकारी के रूप में उनकी निष्पक्षता की तारीफ अब भी होती है. इस पद पर वह मार्च 1970 तक रहे. 1970 से 1972 तक वह दिल्ली प्रदेश जनसंघ के अध्यक्ष रहे. 1970 में वह राज्सभा के लिए निर्वाचित हुए. लगातार अठारह वर्ष तक राज्ससभा में रहने के बाद इस वर्ष उन्होंने घोषित किया था कि वह राज्ससभा का चुनाव नहीं लड़ेंगे. पार्टी के दबाव के सामने उन्हें झुकना पड़ा.

राष्ट्रीय स्तर पर आडवाणी का नाम पहली बार 1973 में चर्चित हुआ, जब वह जनसंघ के राष्ट्रीय अध्यक्ष चुने गए. उस वर्ष जनसंघ का कानपुर में हुआ राष्ट्रीय अधिवेशन काफी हंगामाखेज रहा था. प्रो. बलराज मधोक भी अध्यक्ष पद के दावेदार थे. अध्यक्ष न बन पाने पर उन्होंने जनसंघ के नेताओं पर तरह-तरह के आरोप लगाए, लेकिन उन्हें शिकायत आडवाणी से नहीं थी. आडवाणी की सज्जनता का इससे बेहतर प्रमाण और क्या हो सकता है.

आडवाणी को आप बुद्धिजीवी नेता कह सकते है. 1974 में उन्होंने अपनी कानूनी बुद्धि का परिचय दे कर सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को चकित कर दिया था. इसके पूर्व आडवाणी बंबई विश्वविद्यालय से एलएलबी कर चुके थे, लेकिन किसी अदालत में वकालत नहीं की थी. वकालत का अवसर 1974 में आया. उस वर्ष राष्ट्रपति चुनाव होना था. गुजरात विधानसभा भंग हो गई थी. सवाल खड़ा हुआ कि क्या मतदातामंडल पूरा न होने पर भी राष्ट्रपति का चुनाव हो सकता है और क्या यह संविधान सम्मत होगा. राष्ट्रपति ने संविधान के अनुच्छेद 143 के अंतर्गत सर्वोच्च न्यायालय का परामर्श मांगा. जनसंघ ने इस मुकदमे में हस्तक्षेप करने का फैसला किया और उसकी ओर से बहस करने गए लालकृष्ण आडवाणी पहली बार अदालत के सामने वकील के रूप में उपस्थित हुए. वहां उन्हें अटॉर्नी जनरल नीरेन डे, सॉलिसिटर जनरल लालनारायण सिन्हा, अतिरिक्त सॉलिसिटर जनरल एफ.एस. नरीमन जैसे विधिवेत्ताओं का सामना करना पड़ा. आडवाणी ने सात दिन तक अदालत को यह समझाने के लिए बहस की कि भारत सरकार ने जान-बूझ कर गुजरात विधानसभा का चुनाव नहीं कराया है. सर्वोच्च न्यायालय की जिस सात सदस्यीय बेंच के सामने उन्होंने बहस की थी, उसके सदस्य मुख्य न्यायाधीश ए.एन. रे, न्यायपूर्ति एम.एच. बेग और न्यायमूर्ति चंद्रचूड़ जैसे लोग थे. न्यायमूर्ति एच.आर. खन्ना तो तभी से आडवाणी के प्रशंसकों में शामिल हो गए. न्यायमूर्ति खन्ना ने अपनी आत्मकथा में जीवन के दो महत्वपूर्ण फैसलों का श्रेय आडवाणी को दिया है- एक 1979 में चरणसिंह के अल्पजीवी मंत्रिमंडल में नियुक्त होने के बाद उससे इस्तीफा देने का फैसला, दूसरा 1982 में राष्ट्रपति चुनाव में ज्ञानी जैलसिंह के खिलाफ खड़ा होने का फैसला. किसी राजनीतिक नेता के लिए यह कम महत्वपूर्ण उपलब्धि नहीं है.

जून 1975 में इमरजेंसी लगने पर लालकृष्ण आडवाणी को भी गिरफ्तार कर जेल भेज दिया गया था. उस वर्ष वह तीसरी बार जनसंघ के राष्ट्रीय अध्यक्ष चुने गए थे. उस साल मार्च, 1975 में जनसंघ का राष्ट्रीय अधिवेशन दिल्ली में हुआ था जिसमें मुख्य अतिथि लोकनायक जयप्रकाश नारायण थे. बंगलूर जेल में अपने दिन आडवाणी ने यों ही इंतजार में नहीं गुजारे थे कि निकलने के बाद ही कुछ करेंगे. राजनीतिक और संवैधानिक विषयों पर वह लेख लिखते थे, जो बाहर लाकर भूमिगत साहित्य के रूप में वितरित होता था. इमरजेंसी के प्रारंभिक दिनों में ही जेल में लिखा गया उनका लेख, जिसमें श्रीमती इंदिरा गांधी की इमरजेंसी और हिटलर के तौर-तरीकों में समानता का खुलासा हुआ था, काफी चर्चित हुआ. उन दिनों इंदिरा सरकार के गृह मंत्री यशवंतराय चह्वाण को भी कहीं से इसकी जानकारी मिली, तो एक पत्रकार से उन्होंने कहा था, जरा वह बुकलेट ला कर मुझे भी दो. बड़ी तारीफ सुनी है उसकी. बंगलूर जेल में लिखी गई आडवाणी की डायरी बाद में ए प्रिजनर्स स्क्रैप बुक (कैदी का रद्दी खाता) नाम से प्रकाशित हुई. उसमें किसी के प्रति कटुता लेशमात्र नहीं है, कोई बुद्धिजीवी व्यक्ति ही ऐसा कर सकता है.जेल से आडवाणी जनवरी 1977 में रिहा हुए थे. आसन्न लोकसभा चुनाव को देखते हुए लोकनायक जयप्रकाश के निर्देशन में बनी जनता पार्टी में उन्हें महासचिव बनाया गया था. मार्च 1977 में केंद्र में जनता पार्टी की सरकार बनने के बाद वह सूचना प्रसारण मंत्री नियुक्त किए गए. जुलाई 1979 में मोरारजी सरकार गिरने तक वह इस पद पर रहे. वह जनता पार्टी में जबरदस्त उठापटक का काल था. आरोपप्रत्यारोपों का, एक-दूसरे पर कीचड़ उछालने का खेल पूरे जोश से खेला जा रहा था. ऐसे मंत्री उंगलियों पर गिने जाने लायक थे, जिनके ऊपर किसी प्रकार का आरोप न लगा हो. आडवाणी भी इसी छोटी-सी जमात में थे. उनके अलावा शायद मधु दंडवते ही ऐसे थे, जिन पर किसी प्रकार का आरोप नहीं लगा.

आडवाणी सज्जन पुरुष हैं, इसका अर्थ यह नहीं है कि वह दब्बू भी हैं, कई बार उन्होंने कड़े फैसले भी किए हैं न केवल दूसरों के बारे में, बल्कि अपने बारे में भी. ऐसा ही एक कड़ा निर्णय था 1973 में पहली बार जनसंघ के राष्ट्रीय अध्यक्ष बनने के बाद प्रो. बलराज मधोक को पार्टी से निष्कासित करने का. उन दिनों मधोक की गिनती जनसंघ केप्रमुख नेताओं में होती थी और वह अपने को अटल बिहारी केसमकक्ष मानते थे. पार्टी का अध्यक्ष न बन पाने की नाराजगी में उन्होंने अन्य नेताओं केखिलाफ जबरदस्त बयानबाजी शुरु की. पार्टी में अनुशासन कायम रखने का एक ही रास्ता था, मधोक का निष्कासन. फैसला अध्यक्ष के नाते आडवाणी को ही करना था. उस समय वह पहली बार पार्टी की राष्ट्रीय पांत में शामिल हुए थे, सामान्य मानसिकता ऐसी परिस्थितियों में विवादास्पद मामलों से कतराने की होती है, लेकिन आडवाणी ने कोई कमजोरी न दिखाते हुए मधोक को निष्कासित कर दिया था. अपने बारे में भी वह कड़ा फैसला कर सकते हैं, इसका परिचय उन्होंने जनता सरकार के दौरान दिया. राज्यसभा में वह जनता पार्टी केनेता थे. प्रधानमंत्री मोरारजी देसाई के पुत्र कांतिभाई का मामला राज्सभा में उछला. विपक्षी सदस्य इस मामले की जांच सर्वोच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश से कराने की मांग कर रहे थे. मोरारजी देसाई इसके लिए तैयार नहीं हो रहे थे. उनका कहना था कि कोई संसद सदस्य पहले लिखित रूप से इसकी शिकायत करे. विरोधी दल इसके लिए तैयार नहीं थे और जांच न कराने पर राज्यसभा का कामकाज ठप्प कर देने पर आमादा थे. आडवाणी ने सरकारी पक्ष केनेता केरुप में विरोधी नेताओं से बातचीत कर रास्ता निकाला कि कांतिभाई देसाई के मामले पर राज्यसभा में हुई बहस का विवरण ही सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश के पास भेजा जाए.

यह सुझाव लेकर श्री आडवाणी प्रधानमंत्री मोरारजी देसाई के पास गए. लेकिन मोरारजी ने इसे मानने से इनकार कर दिया. इस पर आडवाणी ने मंत्रिमंडल से अपना इस्तीफा लिख कर उन्हें दे दिया. अपनी पुस्तक विश्व-ासघात में आडवाणी ने उस घटना का उल्लेख करते हुए लिखा है ,राज्यसभा के नेता के रूप में मैंने पाया कि मैं जिस बात को सही समझता हूं, उसे मानने के लिए प्रधानमंत्री को तैयार नहीं कर पाया हूं और इस प्रकार मैं सभा का कार्य चलाने मे असमर्थ हूं. इसलिए मेरा त्यागपत्र दे देना ही उचित होगा. फिर भी यह निष्कर्ष निकालना गलत होगा कि आडवाणी अड़ियल स्वभाव के हैं.

आम सहमति के लिए वह अपने व्यक्तिगत विचारों को पीछे रख सकते हैं, जनता सरकार केदिनों में लाए गए दल-बदल विरोधी विधेयक के समय यह देखने को मिला. इस विधेयक के औचित्य को लेकर उठे विवाद के चलते प्रधानमंत्री मोरारजी देसाई न विरोधी दलों की एक बैठक बुलाई, जिसमें सरकार की ओर से आडवाणी भी थे. ज्यादातर दलों का आग्रह था कि अपने दल के आदेश के विरुद्ध मत देना भी दल-बदल की परिभाषा में सम्मिलित किया जाए. केवल सीपीआई ऐसा नहीं चाहती थी. उसके प्रतिनिधि भूपेश गुप्त को पांचवीं लोकसभा में इस संबंध में बनी संयुक्त समिति के दिनों से ही जानकारी थी कि आडवाणी भी इस उपबंध के खिलाफ हैं. इस बैठक में वह बारबार आडवाणी को अपने विचार व्यक्त करने केलिए उकसाने लगे. आडवाणी ने ऐसा करने से इनकार कर दिया और यह बात स्पष्ट कर दी कि इस उपबंध से सहमत नहीं होने पर भी वह वही बात स्वीकार करने के लिए तैयार हैं जिस पर सबकी सहमति है.

राजनीति में सज्जन व्यक्ति की सीमाओं को समझने के लिए भी आडवाणी उत्कृष्ट उदाहरण हैं. अपनी पार्टी की अगली कतार में वह दस वर्ष से अधिक समय से हैं, लेकिन पार्टी उन्हें लोकसभा या विधानसभा के प्रत्यक्ष चुनावों में खड़ा करने का खतरा नहीं उठा सकती. वह समर्थकों में विश्वास तो जगा सकते हैं, लेकिन उत्साह नहीं. वाजपेयी की तरह आडवाणी ने भी पार्टी अध्यक्ष के तौर पर आठ बरस पूरे किए. हालांकि भाजपा को धन-संग्रह केलिए वाजपेयी का ही नाम चलाना पड़ा. आडवाणी के व्यक्तित्व में उस चुंबकीय व्यक्तित्व का अभाव है जो लोगों को अपने आप ही खींच लाता है.

ऐसे लोग अंधेरे में दीप बनकर आशा का संचार तो कर सकते हैं, लेकिन उनसे यह उम्मीद नहीं की जा सकती कि वे सूरज बनकर दुनिया को चकाचौंध कर देंगे. आडवाणी जैसे लोग राजनीति के भवन में खंभे के ऊपर के कलश बनकर चमक नहीं सकते, लेकिन ढांचे को टिकाए रख सकते हैं. यह वह कीमत है, जो आडवाणी जैसे लोगों को राजनीति में चुकानी ही पड़ती है.

आडवाणी सज्जन पुरुष हैं, इसका अर्थ यह नहीं है कि वह दब्बू भी हैं, कई बार उन्होंने कड़े फैसले भी किए हैं न केवल दूसरों के बारे में, बल्कि अपने बारे में भी. ऐसा ही एक कड़ा निर्णय था 1973 में पहली बार जनसंघ के राष्ट्रीय अध्यक्ष बनने के बाद प्रो. बलराज मधोक को पार्टी से निष्कासित करने का. उन दिनों मधोक की गिनती जनसंघ के प्रमुख नेताओं में होती थी और वह अपने को अटल बिहारी के समकक्ष मानते थे.

खेल के नाम पर पहले बीजिंग उजड़ा

अब उजड़ रही है दिल्ली

पावस नीर

एक झोंपड़ी है. फूस की. उसमें गमछा बिछा कर लेटे मुरली टकटकी लगाए देख रहे हैं. नजरें टिकी हैं राष्ट्रमंडल खेलों के लिए तैयार हो रहे आलीशान खेलगांव पर. वह अपने परिवार के साथ पिछले लगभग दो साल से खेलगांव के आगे डेरा डाले हुए हैं. उनका हौसला अब जवाब देने लगा है. संघर्ष की क्षमता शायद अब खत्म होने वाली है. जूझने की ताकत भी घट रही है. लेकिन दर्द और गुस्सा अब भी ताजा है. दर्द उस जमीन के छिनने का जिसके बूते उनकी और उनके परिवार की जिंदगी चलती थी. और गुस्सा राष्ट्रीय गौरव के नाम पर समाज के हाशिए पर फेंक दिए जाने का. वह नम आंखों से शून्य में टकटकी लगाए सवाल पूछते हैं –आखिर अब मेरा गुजारा कैसे होगा?

ऐसे ही कुछ सवाल ओखला की शिवदेवी के मन में भी हैं. उनका घर इसी साल पांच फरवरी को उजाड़ दिया गया. वह पूछती हैं– कहां जाएं हम? नेहरू स्टेडियम के सामने की बस्ती से उजाड़ दिए गए चार सौ से भी ज्यादा विकलांगों की आंखों में भी यही सवाल, भय और आशंकाएं हैं. दूसरी ओर राष्ट्रमंडल के नाम पर दिल्ली सरकार कुछ और ही खेल रही है. इस खेल के शिकार इन लोगों के अलावा ऐसे हजारों और हैं जिन्हें राष्ट्रमंडल खेलों के नाम पर बेदखल कर दिया गया है और आजीविका के साधन छीन लिए गए हैं. किसी ने नहीं सोचा कि आखिर ये लाखों लोग अपने पेट पर पट्टियां बांध कर कितने दिनों तक भूख और गरीबी की आग को अपने भीतर दबाए रख सकेंगे.

राष्ट्रमंडल खेलों के आयोजन में अब अधिक समय नहीं बचा है. यह 1982 के एशियाड खेलों के बाद से दिल्ली का सबसे बड़ा आयोजन होगा. जाहिर है, भारत में खेलों के हालात और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर पहचान बनाने के लिए राष्ट्रमंडल एक बेहतरीन मौका है. राज्य सरकार आयोजन को राष्ट्रीय गौरव का पर्याय बता कर जोर–शोर से इसकी तैयारियों में जुटी है. तमाम बड़े आयोजनों की तरह इस आयोजन से भी बुनियादी ढांचे में बदलाव और जनसुविधाओं की गति तेज होने की बात की जा रही है. लेकिन क्या इस चकाचौंध के पीछे की हकीकत स्याह नहीं है? क्या इस रोमांच, उत्साह और मनोरंजन की कीमत मुरली जैसे तमाम लोग नहीं चुका रहे?

राष्ट्रमंडल खेलों के चलते दिल्ली की सूरत बदल रही है. अक्सर ऐसे आयोजनों के नाम पर हो रहे निर्माण को शहर का भविष्य संवारने का जरिया बतलाया जाता है, लेकिन क्या इनका फायदा आम आदमी को उतना मिलता भी है, जितना प्रचारित किया जाता है?

राष्ट्रमंडल खेल में हिस्सा लेने वाले खिलाड़ियों और उस दौरान यहां आने वाले पर्यटकों के सामने भारत की एक नई तस्वीर पेश करने की कोशिश की जा रही है. ऐसा ही कुछ हमारे पड़ोसी चीन ने किया था. 2008 के बीजिंग ओलंपिक में. दिल्ली के लिए बीजिंग ओलंपिक को आदर्श माना जा रहा है. दिल्ली को भी बीजिंग बना देने के दावे किए जा रहे हैं. क्या यह महज संयोग है कि ऐसी होड़ उन दो अर्थव्यवस्थाओं के बीच की है जिन्हें दुनिया भर में बाजारवाद का नया प्रवक्ता माना जा रहा है.

2008 के बीजिंग ओलंपिक में 44 खरब डॉलर की राशि खर्च हुई. हालांकि आयोजन के बाद ओलंपिक की तैयारियों से पैदा नतीजों पर सवालिया निशान लग चुका है. ओलंपिक के दौरान चीन ने जिस आक्रामक तरीके से बाज़ार में बुनियादी निर्माण वस्तुओं की मांग बढाई, उससे सीमेंट और स्टील समेत तमाम चीजें महंगी हो गईं. ओलंपिक का तामझाम खत्म होते ही आसमान को छूती कीमतें एक झटके में जमीन पर आ गईं क्योंकि चीन के निर्माताओं का भंडार पूरी तरह खत्म हो गया और मांग में बेहद कमी आ गई. चीन के इतिहास में पहली बार विकास दर का नीचे आना दरअसल ओलंपिक का ही असर है. जिस चीन से इस मंदी के दौर में बाज़ार को उबारने की आस लगाई गई थी, उसकी क्षमता इन खेलों ने आधी कर दी. आंकड़ों पर गौर करने से पता चलता है कि ओलंपिक के पहले और ठीक बाद में चीन की विकास दर के बीच काफी बड़ा अंतर है.

चीन से हमें कुछ सबक सीखने चाहिए. जब ऊंची इमारतों, भव्य स्टेडियम और फ्लाईओवरों को बनाने के लिए आम आदमी के आशियाने पर बुलडोजर चलाने के हालात पैदा हो जाएं, तो ऐसा सबक लेना जरूरी हो जाता है. क्या गारंटी है कि इन खेलों का खर्च पहले से ही मंदी में कराह रही हमारी अर्थव्यवस्था झेल पाएगी?

दरअसल, ऐसी शंकाओं का आधार इतिहास में है. कई ऐसे उदाहरण हैं जो दिखाते हैं कि राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय खेल आयोजनों के बोझ ने कई शहरों और देशों की अर्थव्यवस्था को मुश्किल में डाल दिया है. 1976 ओलंपिक के मेजबान मॉन्ट्रियल की आर्थिक हालत इन खेलों के कारण ऐसी बिगड़ी कि उसे क्यूबेक सरकार से आर्थिक मदद लेनी पड़ी. इसके लिए वहां की सरकार ने जो कर्ज लिया था, उसे वह 2006 तक चुकाती ही रही. मेक्सिको में ओलंपिक के बाद हालात ऐसे बिगड़े कि वहां की अर्थव्यवस्था मंदी का शिकार हो गई. सिओल हो या एथेंस, काफी लंबी सूची ऐसे शहरों की है जो खेल–खेल में तबाह हो चुके हैं.

1982 के एशियाड के समय भी कुछ ऐसा ही हुआ था. दिल्ली की सूरत बदलने की इस कवायद ने कई ज़िंदगियों को हमेशा के लिए बदल डाला. 1982 में विस्थापित होने वालों के जख्म पुराने भले हो गए हों, पर उनके निशान बाकी हैं. इतिहास खुद को दोहरा रहा है. विस्थापन और तोड़फोड़ का दौर फिर शुरू हो चुका है. कुछ गैर–सरकारी संगठनों के आंकड़ों के मुताबिक, पिछले पांच साल में तकरीबन साढ़े तीन सौ झुग्गी बस्तियां तोड़ी जा चुकी हैं और उनमें रहने वाले लगभग 30 लाख लोग बेघर हो चुके हैं. इनमें से सिर्फ एक–तिहाई ही बसाए गए हैं. इस बसावट की भी हकीकत यह है कि आप अगर मदनपुर खादर और बवाना की पुनर्वास बस्तियों में चले जाएं, तो ईंट के तमाम ढांचे गंदले पानी में चार–चार फुट डूबे मिलेंगे. यहां न बिजली है, न पानी.

राष्ट्रमंडल खेल में हिस्सा लेने वाले खिलाड़ियों और उस दौरान यहां आने वाले पर्यटकों के सामने भारत की एक नई तस्वीर पेश करने की कोशिश की जा रही है. ऐसा ही कुछ हमारे पड़ोसी चीन ने किया था. 2008 के बीजिंग ओलंपिक में. दिल्ली के लिए बीजिंग ओलंपिक को आदर्श माना जा रहा है. दिल्ली को भी बीजिंग बना देने के दावे किए जा रहे हैं. क्या यह महज संयोग है कि ऐसी होड़ उन दो अर्थव्यवस्थाओं के बीच की है जिन्हें दुनिया भर में बाजारवाद का नया प्रवक्ता माना जा रहा है.

लोग नारकीय जीवन बिताने को मजबूर हैं. सरकार इस किस्म के पुनर्वास को दरअसल दिल्ली के मास्टर प्लान–2021 का हिस्सा बताकर अपनी पीठ ठोक रही है, लेकिन असली मकसद तो कॉमनवेल्थ ही है. सरकारी कागजात पर एक लाख मकान बन रहे हैं, लेकिन जमीन पर केवल 6800 मकान ही दिखते हैं. बरसों से बसे इन लोगों के लिए कहीं और जाकर बसना तो मुश्किल होगा.

दिल्ली सरकार और दिल्ली हाई कोर्ट ने उनके पुनर्वास की जिम्मेदारी भी ठुकरा दी थी. सुप्रीम कोर्ट के आदेश के बाद उन्हें रातोंरात बवाना और सौदा–घवेरा के दूरदराज इलाकों में भेज दिया गया. सरकार दिल्ली के रिहायशी इलाकों के लघु उद्योगों को नरेला भेज रही है. दिल्ली पहले से ही वॉल्ड सिटी के नाम से मशहूर है, अब इसकी नई चारदीवारी ये पुनर्वास बस्तियां गढ़ रही हैं. पर्यावरण को होने वाले खतरे को नजरअंदाज कर बनाए गए खेलगांव के हजारों मकानों को खेलों के बाद ऊंची कीमतों पर नीलाम करने की बात की जा रही है.

इस देश की बड़ी औद्योगिक संस्थाएं और विशेषज्ञ जिस वक्त कह रहे हों कि देश को सबसे ज्यादा ज़रूरत किफायती आवास मुहैया कराने की है, ठीक उस वक्त राजधानी में लाखों गरीबों को उजाड़ कर इस दावे का मखौल बनाया जा रहा है. जिन बुनियादी सुविधाओं (सीमेंट और स्टील) की सबसे ज्यादा ज़रूरत इन मकानों को है, उन्हें राष्ट्रमंडल खेलों के भव्य आयोजनों में बेतहाशा बर्बाद किया जा रहा है. यह सब हो रहा है राष्ट्रीय गौरव के नाम पर...।

गरीबों की उपेक्षा करने वाला यह एकतरफा विकास दरअसल करोड़ों लोगों की आजीविका को उनसे छीन रहा है. संयुक्त राष्ट्र के आंकड़ों के मुताबिक, पिछले पांच साल में जहां करीब 7000 लोग भारत में आतंकी घटनाओं से प्रभावित हुए हैं, वहीं केवल दिल्ली में करीब चार लाख लोग विकास के नाम पर विस्थापित हुए हैं. यह भारत के विभाजन के बाद सबसे बड़ी मानवीय त्रासदियों में एक है, लेकिन इसका ज़िक्र किसी सरकारी योजना या घोषणापत्र में नहीं दिखता. देश के खाए–पिए मध्य–वर्ग को भी इस विकास से कोई दिक्कत नहीं होती क्योंकि इस विस्थापन को राष्ट्रीय विकास के नाम पर परोसा जाता है जिससे इस वर्ग के अहं की पुष्टि होती है. इस लिहाज से यह एक किस्म का ढांचागत आतंकवाद ही है जिसका पोषण राज्य खुद कर रहा है. यह आतंकवाद किसी भी किस्म के आतंक से बड़ा है क्योंकि इसे चलाने वाला राज्य ही है.

खेल तो अब होने ही हैं. करीब एक अरब डॉलर के बजट वाले इन खेलों पर दिल्लीवासियों के साथ पूरे देश की नजरें लगी हैं.

मुरली के साथी जगतस्वरूप सरकार के रवैये पर कहते हैं –सरकार दूसरी परमात्मा है. जब परमात्मा ही आपके खिलाफ हो तो फिर कोई क्या करे?' उनकी बात पर हंस पड़ते हैं मुरली. उनकी हंसी में दर्द है. उनके पीछे टंगी एक तस्वीर में गांधीजी सिर झुकाए और आंखें बंद किए बैठे हैं.

कागज़ पर मकान, ज़मीन पर श्मशान

राष्ट्रमंडल खेल और मास्टर प्लान 2021 के नाम पर गरीबों को उजाड़ने के मामले पर सरकार का रवैया ढुलमुल है. सुप्रीम कोर्ट के आदेश के बाद हो रहे विस्थापन को रोकने के लिए द दिल्ली लॉज़ (स्पेशल प्रॉविजन) 2006 के तहत एक साल तक यथास्थिति बनाए रखने की बात थी, लेकिन उजाड़ने का सिलसिला जारी रहा. इस कानून की उपधारा 4(बी) के तहत सरकार किसी जमीन पर बसे लोगों को जनहित परियोजनाओं के नाम पर उजाड़ सकती है. राष्ट्रमंडल के नाम पर इस उपधारा के बहाने करीब साढे पांच करोड़ लोग बेघर किए जा चुके हैं. सरकार कहती है कि इन उजाड़े गए लोगों के लिए एक लाख मकान बनाए जा रहे हैं, लेकिन हकीकत 6800 घरों की ही है. सरकार का कहना मान भी लें, तो आखिर साढ़े पांच लाख लोगों के लिए एक लाख घर कितने वाजिब हैं.

अब आम चुनावों से ठीक पहले दिल्ली लॉज़ (स्पेशल प्रॉविजन) 2009 लाकर सरकार ने वही पैंतरा दोहराया है, हालांकि धारा 4 (बी) का चक्कर यहां भी मौजूद है. यह कानून साल 31 दिसंबर 2009 तक ही चलेगा यानी उसके बाद फिर सब भगवान भरोसे होगा. कानून में यह भी साफ है कि विस्थापित किए जा रहे लोगों को सरकार कोई राहत भी नहीं देगी.

उधर डीडीए और एमसीडी गरीबों के लिए योजनाओं की घोषणा तो कर रहे हैं, लेकिन साठ हजार का वादा करके 10 हजार मकान बनाए जा रहे हैं. अब तक इनमें से एक भी मकान आवंटित नहीं किए गए हैं, हालांकि इन घोषणाओं के नाम पर करीब साढ़े पांच करोड़ रुपए के फॉर्म बेचे जा चुके हैं.

पा. नी.

राज्य और धर्म का घालमेल ही तालिबान के लिए खोलता है दरवाज़े

एम जे अकबर

छाती पीट-पीट कर रोने के अपने खतरे हैं. आप खुद को चोटिल कर लेंगे,जबकि आपका कातिल मुस्कुराते हुए कब्रगाह की सैर कर रहा होगा.पाकिस्तान की स्वात घाटी में ऐसा ही हो रहा है.यहां तालिबान के कब्जे पर जिस तरह अंतरराष्ट्रीय समुदाय चीख-चिल्ला रहा है,उसमें तत्व बहुत कम है.

यह दरअसल पाकिस्तान में अतीत की एक विडंबना का दुहराव ही है. बेनजीर भुट्टो ने अफगानिस्तान को तालिबान के हवाले कर दिया था. उनके पति आसिफ अली जरदारी ने पाकिस्तान के भीतर तालिबानीकरण की नींव उस दिन डाली, जब सूफी मोहम्मद के तहरीक-निफ्जे-मोहम्मदी को स्वात ने कानून के तौर पर मान्यता दी. यह मांग पहली बार नवंबर 19 में सुनी गई थी. यही वह महीना था, जब कंधार पर तालिबान का कब्जा हो चुका था.

ऐसे में कई सवाल हैं जो जवाब की मांग करते हैं. पाकिस्तान की सेना के लगभग 12,000 जवान स्वात के इलाके में मौजूद हैं.आखिर क्या वजह है कि यह ताकत अनिच्छा के बावजूद महज 3,000 गुरिल्लाओं के आगे अपने हथियार डाल देती है.ज़ाहिर तौर पर,पाकिस्तान की सेना पर विजय पाना इतना आसान नहीं है. लेकिन सवाल उठता है कि आखिर इसने स्वात में हथियार क्यों डाले.क्या पाकिस्तानी सैनिकों की एक ऐसी विचारधारा के खिलाफ संघर्ष के प्रति इच्छा कम होती जा रही है जिसके साथ छिपे तौर पर वे सहानुभूति रखते हैं. आखिर इस सहानुभूति को सेना के मध्यक्रम के अधिकारी कितना साझा करते हैं,जो फौज में तब आए थे जब जनरल जिया-उल-हक मुल्क की सत्ता पर काबिज थे.आखिर किस हद तक जियावाद पाकिस्तानी सेना के कुछ तबकों के लिए एक पवित्र विचार बन चुका है.

एक ऐसे वक्त में जबकि स्वात के रूप में नागरिक प्रशासन का आखिरी किला भी फतह हो चुका है,पाकिस्तान की राजनीतिक ताकतों को इसकी क्या कीमत चुकानी पड़ेगी. बेनजीर की चमत्कारी और जादुई विरासत को एक अर्ध-निरंकुश ने हड़प लिया है, जिसने अपनी ही सरकार के खिलाफ एक फर्जी तख्तापलट से सारी कार्यकारी ताकतों पर कब्जा कर लिया.जरदारी को एक प्रतीकात्मक प्रमुख के तौर पर सत्ता में भागीदार बनाया गया था, न कि उनके पास कार्यकारी ताकतें थीं.जरदारी की अब तक की इकलौती उपलब्धि यही रही है कि उनके द्वारा किए गए कामों ने मुशर्रफ-युग को पाकिस्तान के स्वर्णकाल की तरह बना दिया है. बेनजीर अगर सत्ता में होतीं, तो वह अपने देश के युवाओं को आर्थिक सुधारों और उदारवादी दृष्टिकोण के जरिए संगठित करतीं. जरदारी के अप्रभावी शासन-जो समझौतों और कुप्रबंधन के जरिए डोल रहा है-से केवल धर्मांधता के लिए ही जगह बनेगी. यह विचार पाकिस्तान की पैदाइश के वक्त से ही यहां अपनी जड़ें फैलाने की कोशिश कर रहा है. मुशर्रफ ने एक असुरक्षित अर्थव्यवस्था में भी सकल घरेलू उत्पाद को दोगुने तक ले जाने का काम किया था. जरदारी के शासनकाल में पाकिस्तान एक बास्केट केस (किसिंगर ने संयुक्त पाकिस्तान के समय इसके पूर्वी भाग के लिए यह शब्द ईजाद किया था) बनता जा रहा है. बांग्लादेश तो उस कलंक से उबर रहा है,लेकिन पाकिस्तान भीख का कटोरा लिए भंवर में फंसता जा रहा है.

सैन्य अराजकता ने काबुल में तालिबान के लिए दरवाजे खोल दिए थे. सवाल है कि क्या आर्थिक अराजकता से इस्लामाबाद के दरवाजे भी तालिबान के लिए खुल जाएंगे. क्या पाकिस्तान इस बात को महसूस करना शुरू कर चुका है कि धर्म आधारित राष्ट्रवाद शांति का पर्याय नहीं होता.

तालिबान के मुख्य केंद्रों, सीमांत और उत्तरी पंजाब में शायद हजारों वर्षों से मुसलमान बहुमत में हैं. यह तथ्य कम लोग ही जानते हैं कि कि महमूद गजनवी के शासनकाल में उसका क्षेत्र आज की हिंदुस्तान-सीमा के आसपास ही था. (यह तथ्य उन आतंकियों से नहीं छिपा है जो पाकिस्तान को अपना आधार बनाकर भारत के दिल पर हमला करना चाहते हैं) हालांकि इस इलाके में कभी भी किसी एक धर्म का प्रभुत्व नहीं रहा. मुसलमानों के साथ मिलकर हिंदुओं और बाद में सिखों ने एक गतिशील साझा संस्कृति का निर्माण और विकास किया. दूसरों की मौजूदगी ने किसी भी समुदाय के शुद्धतावादी होने पर भी रोक लगाए रखी. इस इलाके पर एक के बाद एक मुसलमानों,सिखों और ईसाइयों ने शासन किया. महमूद गजनवी समेत किसी भी शासक ने हिंदुओं और सिखों को इस इलाके से नहीं खदेड़ा. वर्ष 1947 के बाद ही यह क्षेत्र एक धर्म के आधिपत्य वाले इलाके में बदला. उसी समय से यह इलाका धर्मांधता को पोषित करने और उपजाने वाले इलाके में तब्दील हो चुका है.

अल्पसंख्यकों की ताकत को वे बेवकूफ़ शायद ही समझते हैं,जो उन्हें अपना दुश्मन बनाना चाहते हैं.अल्पसंख्यक ही वे नींव के पत्थर हैं,जिनसे किसी देश की इमारत बुलंद होती है. हिंदू और सिख उत्तर-सीमांत और पाकिस्तानी पंजाब के वैसे ही पत्थर थे,जैसे भारतीय मुसलमान हिंदू बहुल भारत के लिए थे.सह-जीवन के लिए उनका बने रहना एक सबक था.उनकी गैर-ने सामाजिक क्रांति की दिशा को उलट कर लोगों को कट्टरता के एक बदबूदार और सूखे इलाके में धक्केल दिया है.

क्या इन सवालों के जवाब कुछ आश्वस्त कर पाएंगे. यह भी अपने आप में एक बड़ा सवाल है.

सवालों के घेरे में चुनाव आयोग

चुनाव आयोग के मुख्य चुनाव आयुक्त गोपालास्वामी ने अगर इस्तीफा दे दिया होता तो उनकी साख बच जाती. दो मार्च को जब लोकसभा चुनाव की घोषणा हो रही थी तब तीनों चुनाव आयुक्त एक साथ प्रेस के सामने मुखातिब हुए. गोपालास्वामी की बगल में नवीन चावला बैठे थे. यह एक शर्मनाक नजारा था. गोपालास्वामी ने चावला को चुनाव आयोग से बर्खास्त करने की मांग की थी. उनकी नजर में चावला चुनाव आयुक्त की कुर्सी के लायक नहीं हैं, लेकिन सरकार ने उनकी मांग को ठुकरा दिया. एक अयोग्य अधिकारी के साथ काम करने की गोपालास्वामी की क्या मजबूरी है. जब भारत सरकार द्वारा नियुक्त चुनाव आयोग का मुखिया नवीन चावला पर सवाल उठाता है तो उसे नहीं हटाने की सरकार की मजबूरी क्या है. अगर गोपालास्वामी के आरोप गलत हैं तो सरकार ने अपने साथी पर गलत आरोप लगाने के जुर्म में उन्हें बाहर क्यों नहीं किया. सरकार को आखिर इस बात का जवाब तो देना ही चाहिए.

जनता देश पर शासन करने का अधिकार सरकार को इसलिए नहीं देती कि वह अपनी मनमानी करे. यह प्रजातंत्र का कौन सा रूप है जहां जनता द्वारा दिए गए अधिकारों के औजार से कानून और नियमों की आड़ में सरकार अपना एजेंडा चलाती है?

चुनावी माहौल बनना शुरू हो चुका है. ऐसे में यह सवाल पूछना अहम होगा कि क्या सरकार को उस शख्स का चेहरा नजर आता है जिसने अब तक चुनाव में वोट नहीं दिया, जो अब तक भारत की चुनावी प्रक्रिया से बाहर है,या जिसे अब तक वोट देने नहीं दिया गया? क्या सरकार यह सोचती है कि कैसे चुनावों को पैसे का खेल बनाने से रोका जाए, कैसे अपराधियों को चुनावी प्रक्रिया से बाहर किया जाए? क्या सरकार भारत के चुनाव को दुनिया के सामने आदर्श बनाने की कोशिश में लगी है? क्या सरकार यह चाहती है कि सबसे गरीब आदमी भी लोकसभा पहुंच सके या चुनाव में हिस्सा ले सके? ऐसे कई सवाल हैं जिस पर अगर हमारी सरकार ने गौर किया होता, तो चुनाव आयोग के सामने निष्पक्ष चुनाव कराने के अलावा और भी दायित्व होते. इसकी प्रतिष्ठा तो बढ़ती ही,सरकार की गरिमा में भी बढ़ोतरी होती. चुनाव आयोग के आयुक्तों के बीच चल रही रस्साकशी नहीं होती.

चुनाव आयोग के तीनों आयुक्तों वाई एस कुरैशी,नवीन चावला और गोपालस्वामी में चावला और गोपालस्वामी ने एक-दूसरे के खिलाफ तलवारें निकाल ली. गोपालस्वामी ने चावला के खिलाफ सरकार से शिकायत की. उन्हें बर्खास्त करने की मांग भी की. अब मुख्य चुनाव आयुक्त को ऐसा करने का हक है या नहीं,यह कानून का विषय है. कुछ लोग गोपा-लस्वामी को आडवाणी का आदमी बता रहे हैं और गोपालस्वामी की शिकायत करने के समय पर सवाल भी उठाया, लेकिन गोपालस्वामी की शिकायत में कितनी सच्चाई है, यह कोई नहीं बता रहा है. अगर गोपालस्वामी की शिकायत में दम है, तो वह आडवाणी के आदमी हों या फिर उन्होंने गलत समय पर बात उठाई, इससे फर्क नहीं पड़ना चाहिए और चावला के खिलाफ कार्रवाई होनी चाहिए. उन्हें इतनी बड़ी जिम्मेदारी से मुक्त कर देना चाहिए. शिकायत में सच्चाई नहीं है, तो फिर गोपालस्वामी पर कार्रवाई होनी चाहिए. इस पूरे प्रकरण में हमने देखा कि देश के कानून मंत्री हंसराज भारद्वाज इतनी जल्दी में थे कि उन्होंने खुद को ही इस हाई-प्रोफाइल ड्रामे का एक खिलाड़ी बना दिया. बिना तहकीकात के तुरंत एक टीवी चैनल के रिपोर्टर को बुलाकर फरमान जारी कर दिया कि देश के अगले मुख्य चुनाव आयुक्त नवीन चावला होंगे. जिस शख्स पर इल्जाम है, उसे क्लीन चिट दे दी और लगे हाथ ईनाम भी.साथ में यह डुगडुगी भी पिटवा दी कि चुनाव आयोग का काम मतदाता सूची तैयार करना है. कानून मंत्री पूरे पांच साल सीबीआई को ठीक करने और क्वात्रोची के मामले को निपटाने में ही इतने व्यस्त रहे कि शायद उन्हें इस बात के लिए वक्त ही नहीं मिला कि चुनाव आयोग को कैसे बेहतर बनाया जाए.

जब यह विवाद शुरु हुआ, तो हंसराज भारद्वाज न्यायाधीश की कुर्सी पर लपक कर जा बैठे, लेकिन उनकी नजर तीसरे आयुक्त कुरैशी पर नहीं गई जिन्होंने मौके का फायदा उठा कर खुद को प्रचारित करने की पुरजोर कोशिश की. पिछले दिनों पहले लंदन में रहते हुए कुरैशी ने वहीं से घोषणा कर दी कि चुनाव एक अप्रैल से आठ मई के बीच होंगे. जब लोगों ने दिल्ली में चुनाव आयोग से संपर्क किया, तो अधिकारिक फरमान आया कि चुनाव की तारीख को लेकर अब तक कोई फैसला नहीं लिया गया है. क्या भारत में होने वाले चुनाव की घो-षणा लंदन से होगी? कानून मंत्री या फिर सरकार ने कुरैशी साहब से इस मसले पर जवाब तलब क्यों नहीं किया? किसी संस्था या अधिकारी पर किसी का नियंत्रण है भी या नहीं? क्या ऊंची कुर्सियों पर बैठने वाले जिम्मेदार लोग इसी तरह की मनमानी करते रहेंगे? देश के साथ इस तरह का मजाक करने के लिए सरकार को क्या जनता ने अधिकार दिया है? कुल मिलाकर जो तस्वीर उभर रही है, वह तो यही है कि इन नेताओं और अधिकारियों से कुछ उम्मीद नहीं करनी चाहिए. इन तथाकथित जिम्मेदार लोगों को इस बात की जरा-सी भी चिंता नहीं है कि हमारे देश के चुनाव पर दुनिया भर की नजर है और इस तरह से विवाद पैदा करके हम हंसी के पात्र बनते हैं.

सवाल यह भी है कि इस मामले को लेकर सरकार इतनी चिंतित क्यों है? कानून मंत्री को यह बताने की क्या जरूरत है कि चुनाव आयोग की प्रतिष्ठा को ठेस पहुंचाने का किसी को हक नहीं है. जब सरकार अपने किसी समर्थक को आयुक्त की गद्दी पर बैठाती है, तब क्या सरकार इसकी प्रतिष्ठा पर चोट नहीं पहुंचाती? जब सेवानिवृत हुए चुनाव आयुक्तों को मंत्री बनाया जाता है क्या तब इसकी प्रतिष्ठा नहीं जाती? जब तक देश में उच्च पदों के चुनाव के लिए प्रतिभा को छोड़ सत्ता की नजदीकियों को तरजीह दी जाएगी,तब तक इस तरहके मामले तो उठते ही रहेंगे.

चौथी दुनिया ब्यूरो

यह मुस्कान कहीं झूठी तो नहीं ....

जब तोप मुक़ाबिल हो

क्या हमारी दुनिया सचमुच अंधेरी और अंधी होती जा रही है? हमारी दुनिया से मतलब हम पत्रकारों की दुनिया से है. हम इसलिए यह बात उठा रहे हैं क्योंकि पत्रकारों को अलिखित अधिकार मिले हैं जिनका सभी सम्मान करते हैं. लोकतंत्र की सर्वमान्य धारणा है कि विधायिका, न्यायपालिका और कार्यपालिका की तरह मीडिया भी समान अधिकार संपन्न क्षेत्र है और उसे तीनों पर सार्थक और सही टिप्पणी का अधिकार है. किसी को भी कहीं भी रोक कर सवाल पूछने का हक़ सिर्फ पत्रकारों का माना गया है और लोग भी उस हक़ की इज़्ज़त करते हैं. आम लोगों के बीच अब तक यह विश्वास बना हुआ है कि जब कहीं भी उनकी सुनवाई न हो, कोई भी बात नहीं सुने तो पत्रकारों के पास चले जाओ. वे ज़रूर बात सुनेंगे और जब छापेंगे या दिखाएंगे, तो सरकार का वह व्यक्ति जो उनके दुख-का जिम्मेदार है, जवाब देने को मजबूर होगा.

हम इन कसौटियों से जुड़े अधिकारों का तो जम कर उपयोग करते हैं, लेकिन उसकी जिम्मेदारियां नहीं उठाते. इन जिम्मेदारियों को न उठाने का परिणाम अपने सबसे बुरे स्वरूप में हमारे सामने आ रहा है. पहले कहा जाता था कि थोड़ी शराब पिला दो और जो चाहे लिखवा लो. धीरे-धीरे बात काम कराने की, ठेकेद्-ारी तक पहुंच गई और आज हमारे ही पेशे के कई बड़े और छोटे साथी काम कराने का ठेका लेने लगे हैं.

चाहे अक्षरों की दुनिया हो या तस्वीरों की दुनिया, गंदी मछलियां हर जगह दिखाई दे रही हैं. पीआर जर्नलिज्म की एक नई श्रेणी पैदा हो गई है जो राजनैतिक दलों या बड़े घरानों को सलाह देती है कि कैसे उन्हें अपनी ताकत और साख बढ़ानी चाहिए. जब चुनाव आते हैं, तो चाहे बड़े पत्रकार हों या छोटे, वे अपने-दलों के रणनीतिकार में तब्दील हो जाते हैं. वे अपनी टोली बनाते हैं और प्रचार का हिस्सा बन जाते हैं.

सबसे बुरी हालत तो अब हो गई है. पिछले आम चुनाव से यह बीमारी खुले आम सामने आ गई है और कोई इसे छिपाना नहीं चाहता. अखबारों ने और टेलीविजन चैनलों ने अपने संवाददाताओं से कहा कि आप उम्मीदवारों से पैसे लीजिए और उनकी रिपोर्ट छापिए या दिखाइए. एक संपादक जो मालिक हैं, उन्होंने अपने संवाददाताओं से भरी मीटिंग में कहा कि हम जानते हैं कि आप लोग चुनावों में लिखने का पैसा लेते हैं. अब आप हमारे बताए रेट पर पैसा लीजिए और अपना कमीशन उसमें से लीजिए. मीटिंग में मौजूद एक भी संवाददाता ने प्रतिवाद नहीं किया कि वे ऐसा नहीं करते. बड़े राजनैतिक दल टेलीविजन के बड़े पत्रकारों को व्यक्तिगत रूप से और चैनलों को संस्था के रूप में मोटी रकम देते हैं ताकि वे उनके बारे में प्रचार न करें तो कोई बात नहीं, लेकिन हानि पहुंचाने वाली रिपोर्ट तो न ही दिखाएं. अगर कोई अखबार या चैनल इससे इनकार करता है, तो हम उसे अपवाद मान कर अपनी गलती की क्षमा मांग लेंगे. पर यदि सभी ऐसा करते हैं, तो हमें इस कहानी के विद्रूप स्वरूप को सामने लाने का हक़ होगा.

इस सारे क्षरण में आम आदमी की तकलीफें हमारे एजेंडे से गायब हो गई हैं और परिणाम सामने आ रहा है कि वह हम पर विश्वास खोता जा रहा है. यह अजीब अंतर्विरोध है कि जिसके लिए मीडिया की बुनियादी प्रतिबद्धता है, वही मीडिया पर भरोसा नहीं करता या कम भरोसा करने लगा है.

प्रसिद्ध कार्टूनिस्ट और पत्रकार सुधीर तैलंग जब मिलने आए, तो व्यथा से बोले कि पिछले पांच सालों की पांच ऐसी रिपोर्टें याद नहीं आ रही हैं जिनका संबंध आम लोगों से रहा हो. संतोष तिवारी मिलने आए तो कहने लगे कि इतनी ज्यादा घुटन है कि नौकरी छोड़ने का मन कर रहा है. साथ ही कहा कि पत्नी का कहना है कि पत्रकारिता करो, नहीं तो तुम टूट जाओगे. ऐसे नामों की लंबी फेहरिस्त है, पर सवाल है कि आखिर यह स्थिति आ क्यों रही है. क्यों खबर से, खबर तलाशने की मेहनत से, पाठक को सही बात बतलाने से और पाठक के पक्ष में खड़े होने से हम घबरा रहे हैं. किसका दबाव पत्रकारिता के पेशे पर है, क्या बाज़ार हमें यह कहता है कि समाचार या जो घट रहा है, उसे न दिखाएं या छापें. क्या मालिक संपादकों को इसके लिए विवश कर रहे हैं या संपादक ही पत्रकारों को समाचार के अलावा सब कुछ लिखने या दिखाने के लिए प्रेरित कर रहे हैं.

मेरा मानना है कि जितना हम अपने कर्तव्य से दूर जाएंगे, उतना हम देश को खतरे में डालेंगे.जितना ज्यादा समाचारों का या जानकारी का संप्रेषण सीमित होगा, उतना ही देश में अविश्वास बढ़ेगा. यह अविश्वास वर्गों के बीच का हो सकता है, धर्मों के बीच का हो सकता है, जातियों के बीच का हो सकता है और जनता तथा सरकार के बीच का हो सकता है. और यहीं मीडिया का रोल आता है कि वह यह सब न होने दे. अगर मीडिया की चूक, भूल या जान-बूझ कर की गई गलती की वजह से अविश्वास बढ़ता है तथा हम अराजकता की ओर बढ़ते हैं, तो इसका सबसे पहला असर हम पर यानी मीडिया पर ही पड़ने वाला है. अगर सत्ता को हमने यह अहसास करा दिया कि हम मैनेज हो सकते हैं, तो हमें आगे सेंसरशिप के लिए तैयार रहना चाहिए. और यदि विपक्ष को हमने यह संकेत दिया कि हम आसानी से प्रभावित किए जा सकते हैं, तो हमें गोली और लाठी से दबने की दिमागी तैयारी रखनी चाहिए.

संपादकों, पत्रकारों और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के लोगों को अगर अब भी संभलना न आया या उन्होंन संभलना ना चाहा, तो अगले पांच साल यानी पंद्रहवीं लोकसभा के कार्यकाल के बाद उन्हें संभलने का मौका ही नहीं मिलेगा. लोकतंत्र के नाम पर ऐसी ताकतें सामने आ रही हैं

जिनका लोकतंत्र में भरोसा ही नहीं है. उसी तरह पत्रकारिता के क्षेत्र में उनकी पैठ बढ़ रही है जो पत्रकारिता के सिद्धांतों को तोड़ने में अपनी शान समझते हैं. अगर गांधीजी और सुभाष चंद्र बोस के जन्मदिन पर उनकी याद मीडिया को ना आए, तो मानना चाहिए कि हमारा यानी मीडिया का नेतृत्व लिलिपुटियंस के या बौने पत्रकारों के हाथ में है. पर ऐसे पत्रकारों की भी कमी नहीं है जो खामोश तो हैं, पर वे ऐसी स्थिति को स्वीकार नहीं कर पा रहे हैं.इन सब को मिल कर अपने-अपने संस्थानों में आवाज़ बुलंद करनी होगी और बौने पत्रकारों को उनका धर्म याद कराना होगा. एक वक्त ऐसा आता है जब बोलना परम कर्तव्य बन जाता है और पत्रकारिता के क्षेत्र में चल रही अराजक स्थिति, ग़लत परिभाषा और पत्रकारिता की बुनियाद को हिलाने वाली गतिविधयों के विरुद्ध हाथ उठाना ऐतिहासिक कर्तव्य बन जाता है. हमें ऐसी ही तोपों का मुकाबला करना है और ऐसे दोस्तों की तलाश भी करनी है जो तोप का मुकाबला करने में न केवल साथ दें, बल्कि नेतृत्व भी करें.

संपादक

बड़े दलों का मुश्किल रास्ता

संतोष भारतीय

लोकसभा चुनाव अप्रैल और मई में होने वाले हैं और नई सरकार दो मई तक बन जाएगी. कैसी होगी पंद्रहवीं लोकसभा, उसका चेहरा और चरित्र बिल्कुल साफ नहीं है और यह भी पता नहीं चल पा रहा है कि पंद्रहवीं लोकसभा देश के सामने पैदा हुई चुनौतियों का सामना कितनी समझदारी से कर पाएगी.अगले प्रधानमंत्री लालकृष्ण आडवाणी होंगे या राहुल गांधी,यह भी साफ नहीं है क्योंकि आज न यूपीए का नक्शा साफ है न एनडीए का. फिर भी धुंधली तस्वीर भाजपा के नेतृत्व वाले एनडीए की तो नज़र आ रही है,यूपीए की तो उतनी भी नज़र नहीं आ रही.

एनडीए में मुसीबतें कम नहीं हैं.आडवाणी के प्रधानमंत्री पद के उम्मीदवार बनने के साथ ही दक्षिण में भाजपा के सहयोगियों की संख्या शून्य हो गई है.जयललिता वामपंथियों के साथ चली गई हैं तथा आंध्र में चिरंजीवी ने भाजपा का साथ देने से मना कर दिया है. उड़ीसा में नवीन पटनायक ने भाजपा का साथ छोड़ ही दिया है केरल में भाजपा का अस्तित्व है नहीं. कर्नाटक में भाजपा की सरकार है पर उसे लोकसभा में कर्नाटक से कितनी सीटें मिलेंगी, इसका अनुमान अभी नहीं लगाया जा सकता. इसका कारण है कि वहां के कुछ संगठन हिंदू संस्कृति की रक्षा के नाम पर खुली गुंडागर्दी कर रहे हैं.हमें दिल्ली में बैठ कर आम लोगों की नाराज़गी का पता नहीं चल पा रहा, लेकिन कर्नाटक से आ रही खबरें भाजपा के लिए चिंताजनक हैं. इसीलिए भाजपा अध्यक्ष राजनाथ सिंह डैमेज कंट्रोल के नाम पर इन संगठनों के खिलाफ बयान दे रहे हैं.

भाजपा के लिए पश्चिम बंगाल भी चिंताजनक है क्योंकि वहां ममता बनर्जी और कांग्रेस के बीच तालमेल हो ही गया है, मामला बस सीटों के बंटवारे पर फंसा है. इस स्थिति में उत्तर प्रदेश,बिहार, मध्य प्रदेश,पंजाब और महाराष्ट्र से भाजपा की आशाएं हैं,पर ये आशाएं कितनी पूरी होंगी, कहा नहीं जा सकता. भाजपा से कल्याण सिंह ने इस्तीफा दे दिया है.कल्याण सिंह उत्तर प्रदेश में पिछड़ी जाति लोध राजपूत के नेता हैं.अब तक लोधों ने कल्याण सिंह का साथ दिया है तथा उनका प्रतिशत चार है. इस बार भी यदि लोधों ने कल्याण सिंह का साथ दिया, तो भाजपा से चार प्रतिशत मत और छिटक कर मुलायम सिंह के साथ चला जाएंगे.

लेकिन भाजपा के लिए असली खतरा भैरों सिंह शेखावत हैं. वह राजस्थान के सबसे लंबे समय तक मुख्यमंत्री रहे और देश के उपराष्ट्रपति रहे. उनकी छवि अटल बिहारी वाजपेयी जैसी है जो रहे तो जनसंघ और भाजपा के साथ, लेकिन दूसरे वर्गों ने भी उन पर भरोसा किया. दूसरे वर्गों में मुसलमान भी आते हैं,जिन्होंने वाजपेयी को अपने नजदीक माना था.वही स्थिति आज भैरों सिंह शेखावत की है .उन्हें लेकर न दूसरे दल सवाल उठा रहे हैं और न मुसलमान. भैरों सिंह शेखावत ने लोकसभा चुनाव लड़ने की मंशा जताकर पांव भले खींच लिए पर भाजपा की राह में कांटे तो वह बो ही सकते हैं. भैरों सिंह शेखावत के खिलाफ केवल एक चीज है और वह है उनकी उम्र.

कांग्रेस के नेतृत्व में बनी यूपीए की सरकार तो चल गई क्योंकि यह सरकार चलाने के लिए ही बनी थी. पर यह लोकसभा का चुनाव भी मिलकर लड़ेगी, इसके कोई निशान नहीं दिखाई दे रहे.कांग्रेस पर उसके सहयोगी दल भरोसा नहीं कर रहे कि कांग्रेस उन्हें कितनी सीटें देगी. वहीं कांग्रेस भी अकेले चुनाव लड़ेगी,इसके संकेत वह लगातार दे रही है. कांग्रेस के लिए भी देश के हालात बहुत संतोषजनक नहीं हैं. यदि करुणानिधि कांग्रेस की मदद नहीं करते,तो तमिलनाडु में कांग्रेस के लिए अंधेरा है. कर्नाटक में यदि उसका साथ देवगौड़ा नहीं देते, तो वहां भी ज्यादा आशा नहीं है. आंध्र में टीआरएस उसका साथ छोड़ चंद्रबाबू से मिल गई है और चिरंजीवी साथ देते दिखाई नहीं पड़ रहे. उड़ीसा में कांग्रेस संगठित नहीं है और अभी कुछ दिन पहले नई टीम को के पी सिंह देव के नेतृत्व में कांग्रेस की जिम्मेदारी दी गई है. दक्षिण में उसे केवल केरल से कुछ सीटें मिल सकती हैं. महाराष्ट्र भी कांग्रेस के लिए निराशाजनक हो सकता है. उत्तर प्रदेश, बिहार उसके लिए चुनावी नजरिए से अकाल का इलाका है. मध्य प्रदेश में बंटी और विधानसभा में बुरी तरह से हारी कांग्रेस लोकसभा के लिए कितनी सीटें जीत पाएगी,कह नहीं सकते. सारी ताकत लगाने के बाद भी राजस्थान में कांग्रेस को सरकार बनाने के लिए निर्दलियों को साथ लेना पड़ा,अब लोकसभा चुनावों में उसका इम्तहान है.

कांग्रेस के नेता घोषणा करते जा रहे हैं कि राहुल गांधी अगले प्रधानमंत्री होंगे. कांग्रेस को भरोसा है कि उनमें प्रधानमंत्री बनने के सारे गुण हैं,लेकिन देश को कितना भरोसा है,अभी पता नहीं चल पा रहा. यदि राहुल गांधी के नाम पर अट्ठारह से चालीस साल तक के लोग कांग्रेस को वोट करते हैं,तो कांग्रेस की राह आसान हो जाएगी. पर आज यह बात बनती नहीं दिखाई देती. इस सारी स्थिति में मुसलमान कहां है. अब तक देखा गया है कि चुनावों के समय मुसलमान अल्पसंख्यक मनोविज्ञान के आधार पर अपने हितों को लेकर एकजुट हो जाता है,लेकिन यह पहला चुनाव होगा जब शायद ऐसा न हो.पिछले विधानसभा चुनावों में किसी भी दल ने मुसलमानों ने अपने साथ लेने की कोई कोशिश नहीं की और इस बार भी यही होता दिखाई दे रहा है. दरअसल,मुसलमान वोटों को बांटने और ताकत से महरूम करने में मुसलिम संगठन,इनकी पार्टियां और सेकुलर कही जाने वाली पार्टियां अपना पूरा ज़ोर लगा रही हैं. मुसलमानों के अपने साथ होने का दावा करने वाली राजनैतिक पार्टियों की लंबी कतार है. इनमें मुख्य हैं बदरुद्दीन अजमल की एयूडीएफ, अहमद बुखारी साहब की हिमायत वाली यूडीएफ, हाजी युसूफ कुरैशी की सदारत वाली यूडीएफ, सिराजुद्दीन कुरैशी के नेतृत्व में बना नया राजनैतिक दल जो कुरैशियों सहित पिछड़े और कमज़ोर मुसलमानों को समर्थन का दावा करता है, पूर्वी उत्तर प्रदेश में नई बनी पीस पार्टी जिसकी बड़ी-बड़ी बैठकें हो रही हैं, उसके सहित लगभग ग्यारह पार्टियां. ये पार्टियां आपस में कोई तालमेल न कर उन पच्चासी सीटों पर आमने-लड़ेंगी जहां मुसलमानों की संख्या चालीस फीसदी के आसपास हैं और नतीजा होगा मुसलमानों के वोट का बेअसर होना.

मुसलमानों के दो बड़े संगठन जमात-इस्लामी और मिल्ली काउंसिल की रणनीति भी काबिल-ए-गौर है. जमात-ए-इस्लामी अपनी राजनैतिक पार्टी बनाना चाहती है और यदि रजिस्ट्रेशन न मिल पाया,तो वामपंथियों को अपना समर्थन देगी.दूसरी ओर मिल्ली काउंसिल कांग्रेस को समर्थन देगी कि यदि वह न जीती तो भाजपा जीत जाएगी. मिल्ली काउंसिल इस बात की कोशिश भी कर रही है कि कांग्रेस मुस्लिम हितों पर अपनी राय साफ करे, पर अभी तक तो कांग्रेस की राय सामने आ नहीं पा रही है.

मुसलमानों के वोटों को बिना कोई वादा किए बसपा अपनी ओर खींचना चाहती है और उसकी रणनीति है कि ज्यादा से ज्यादा मुसलमान उम्मीदवार लड़ाओ. समाजवादी पार्टी मुसलमानों से थोड़ी दूर जा रही है. उसके नेता आजम खां खुद समाजवादी पार्टी से नाराज़ हैं. कल्याण सिंह का समाजवादी पार्टी के समर्थन में आना मुसलमानों को कितना पसंद आएगा,कहा नहीं जा सकता. कांग्रेस भी कोशिश करेगी कि उसे मुसलमान वोट मिले, पर यह कितना कामयाब होगा, अभी नहीं कहा जा सकता. भाजपा उन छोटी-पार्टियों को अपनी मदद देगी जो मुसलमानों का वोट बांटने में आमने-लड़ेगीं क्योंकि उसे मुसलमान वोट मिलेगा, इसकी उसे आशा नहीं है.

दिल्ली में इंडिया इस्लामिक कल्चरल सेंटर के चेयरमैन का चुनाव हुआ जिसमें सिराजुद्दीन कुरैशी और सलमान खुर्शीद चुनाव लड़े. सलमान खुर्शीद ने इस चुनाव को कांग्रेस बनाम भाजपा का चुनाव बना दिया. इस चुनाव में सिराजुद्दीन कुरैशी की जीत हुई और भारी बहुमत से हुई. इतना ही नहीं,एक को छोड़ उनका पूरा पैनल जीत गया. क्या यह मान लिया जाए कि मुसलमान बड़ी संख्या में भाजपा के साथ जाने वाला है. यहीं दिमागी कमज़ोरी नज़र आती है. कांग्रेस नेताओं को कहां दांव लगाना चाहिए और कहां नहीं, यह कौन सिखाए. दरअसल,अनुभव का कोई कॉलेज तो है नहीं.

सबसे अफसोसनाक बात यह है कि मुसलमानों के ताकतवर संगठनों के बीच मुसलमानों का ताकत बनने को लेकर कोई बातचीत नहीं हो रही ताकि उनकी रोजी-और शिक्षा के मसलों पर राजनैतिक दलों पर दबाव बन सके. उनके छोटे-छोटे राजनैतिक घरौंदे हैं जो अपने को हिंदुस्तान का सबसे अहम किरदार मान रहे हैं. इस सारी जद्दोजहद में मुझे साफ दिखाई दे रहा है कि यह पहला चुनाव होगा जिसमें मुसलमान ताकत के रूप में अपनी पहचान खोने जा रहा है और इसकी चिंता मुसलमानों के नेताओं और उनके संगठनों को नहीं है.

प्रिय पाठकों,
चौथी दुनिया की दोबारा शुरुआत के समय हम यही सोच रहे थे कि इतने सालों बाद वापसी की शुरुआत कितनी मुकम्मल हो सकेगी. हालांकि चौथी दुनिया के पुनर्प्रकाशन की खबर फैलते ही देश के कोने-कोने से हमारे समर्थन और उत्साहवर्द्धन के लिए जितने सारे पत्र आए,उन सभी को प्रकाशित करना संभव ही नहीं है. जगह के अभाव में हम केवल चुनिंदा पत्र ही प्रकाशित कर पा रहे हैं. लेकिन यह काफी है उस जज्बे और उम्मीद को ज़ाहिर करने के लिए, जो लोगों ने चौथी दुनिया से लगा रखी है.
सादर,
संपादक

डंके की चोट पर

आदरणीय
संपादक जी,
मैं वाराणसी के एक विद्यालय में अध्यापक एवं एनसीसी अधिकारी हूं. कई दिनों पहले मैं अपने एक मित्र के घर मिलने गया, तभी मेरी निगाह मेज पर रखे वाराणसी से निकलने वाले अमर उजाला अखबार पर गई.चौथी दुनिया के पुन: प्रकाशन का विज्ञापन था.सहसा आंखों पर विश्वास नहीं हुआ.जेहन में पुराने दिन के तसव्वुर तस्वीर की मानिंद गुज़रने लगे,जब हम वाराणसी से समाचारों को भेजते थे और चौथी दुनिया उसे डंके की चोट पर छापता था। आज के दौर में सच पर चौतरफा चोटें हो रही हैं। उन चोटों के खिलाफ आपका साप्ताहिक अखबार मजलूमों और सशक्त हिंदुस्तान की आवाज़ बनकर उभरे,यही शंकर की नगरी से दुआ करता हूं।
आदर सहित
आपका
डॉ.अरविंद कुमार सिंह
सरस्वती सदन
एस-2/25के
भोजूबीर वाराणसी

स्पष्टीकरण से करें शुरुआत

महोदय,
वर्ष 2009 में मेरे लिए यह शुभ समाचार है कि 'चौथी दुनिया' का पुनर्प्रकाशन होने वाला है.अपने क्रांतिकारी उद्देश्यों, तीखे तेवर और अनूठे कलेवर के लिए एक समय चौथी दुनियाफ की हिंदी पत्रकारिता जगत में खासी धूम थी. चौथी दुनिया के पुराने पाठकों का विश्वास जीतने के लिए मेरी नेक सलाह यह है कि सबसे पहले उन कारणों पर ईमानदाराना स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया जाए कि क्यों और कैसे नौजवानों के आंदोलन चौथी दुनिया को बंद करने पर मजबूर होना पड़ा.दूसरे,क्या चौथी दुनिया के पुनप्रकाशन का मुख्य उद्देश्य वही है या उसमें कुछ बदलाव लाया गया है.
शफ़ीकुल्लाह गाज़ी
9-0 एम.एम.अली
मेमो सोसायटी बिल्डिंग परिसर
बेकनगंज,
कानपुर

मूलगामी और समावेशी राजनीति की तलाश

एस पी शुक्ला

मौजूदा राजनीतिक दौर संभावनाओं से भरा पड़ा है. साथ ही इसी दौर में आने वाले पांच-वर्षों में विनाशकारी परिस्थितियां पैदा होने का खतरा भी मौजूद है. राजनीतिक प्रक्रिया अंतत: जो भी करवट लेगी,वह अंतर्निहित मूलभूत ताकतों की गतिशीलता को ही परिभाषित करेगी. हालांकि यह दीर्घकालीन नतीजा सीधी और सरल गतिविधियों की परिणति के रूप में सामने नहीं आएगा, न ही वह प्रक्रिया उस दीर्घकाल की अवधि स्वयं परिमाणित कर सकेगी. यहीं पर रणनीतिक विश्लेषण और पहल करने की गुंजाइश बनती है.

पिछले दो दशकों से हमने राजनीतिक मोर्चे पर अभूतपूर्व मंथन देखा. कहने का मतलब यह नहीं कि इसके पहले का राजनीतिक परिदृश्य बिल्कुल शांत था या राजनीतिक प्रक्रिया में उथल-पुथल नहीं थी. साठ के दशक में हमने कांग्रेस विरोध की लोहियावादी राजनीति को देखा,जिसने राज्यों के स्तर पर कांग्रेस के आधिपत्य को खासी चोट पहुंचाई. इसके बाद सत्तर के दशक में हमने आपातकाल का सदमा सहा, जिसके बाद केंद्र में पहली गैर-कांग्रेसी सरकार बनी. इस घटनाक्रम से कांग्रेस के राजनीतिक वर्चस्व में कमी तो आई, पर उसका प्रभाव पूरी तरह से खत्म नहीं हो सका. ना ही इससे राजनीति के कांग्रेसी दर्शन और दृष्टि में गुणात्मक परिवर्तन आ सका, जो खुद ही उस व्यापक राजनीतिक सम्मति का कमजोर-रूप था, जो स्वाधीनता-आंदोलन में अंतर्निहित था और जो स्वतंत्रता के बाद के नेहरूवादी युग तक भी जीवित था. सर्वसहमति की इस राजनीति को मूलगामी और समावेशी तत्वों से खाद मिली, जिन्होंने स्वाधीनता आंदोलन के लंबे संघर्ष के दौरान भारतीय राजनीति के दर्शन को पुष्ट और प्रभावित किया.हालांकि जैसे-जैसे ये तत्व कमजोर पड़े, वैसे ही सहमति की राजनीति भी निढाल हुई. कांग्रेसी आधिपत्य को दी जाने वाली चुनौतियों-जो नब्बे के दशक के पहले विकसित हुईं-ने इन तत्वों की कमजोरी से पैदा हुई राजनीतिक कुंठा को ही भुनाया. पिछड़े वर्गों के बहुमत द्वारा राजनीतिक ताकत में अपने हिस्से पर पुरजोर दावा और संविधान में निहित राजनीतिक प्रक्रिया के स्थगन के खिलाफ होने वाले जनांदोलन दरअसल सर्वसहमति के आधारभूत सिद्धांतों से भटके नहीं थे, बल्कि सच पूछिए तो वे इन सिद्धांतों को नकारने या उन पर समझौते करने के खिलाफ जोरदार विरोध दर्ज करा रहे थे.

राजीव गांधी की कांग्रेस ने जो चुनौतियां झेलीं, उसकी शुरुआत दरअसल दो घटनाओं से हुई. उच्च पदों पर भ्रष्टाचार ने इसको हवा दी,तो मंडल ने पूरी तरह ध्रुवीकरण कर दिया. दोनों ही मसले सर्वसहमति से भटकाव नहीं थे,पर मूल रूप से इसकी फिर से बहाली की मांग का प्रकटीकरण थे. हालांकि जल्द ही राजनीतिक उथल-पुथल ने इन मसलों से एक जुदा राह पकड़ ली. राष्ट्रीय परिदृश्य पर कमंडल के एक स्वाधीन, मजबूत और खतरनाक उफान, स्वाधीनता के बाद राजनीति के अभूतपूर्व सांप्रदायीकरण और कांग्रेस की धर्मनिरपेक्ष व समानतावादी विचारधारा और व्यवहार में गिरावट (मस्जिद के ध्वंस में इसकी संलिप्तता और नव-उदारवादी आर्थिक एजेंडा के अपनाने से यह प्रतीक बन गया) ने इस संक्रमण को परिभाषित किया. जो राजनीतिक संक्रमण हम अस्सी के दशक के अंत या नब्बे के दशक की शुरुआत से देख रहे हैं, उसका चरित्र बिल्कुल ही जुदा है. आधुनिक भारतीय राजनीतिक दर्शन के आधार तत्व को ही गंभीर चुनौती मिली है. विडंबना यह है कि मूलगामी राजनीति में अधिकतर जगह घेरने वाले दोनों मुख्य राजनीतिक दल-कांग्रेसी नेतृत्व वाला सत्ताधारी गठबंधन और भाजपा नेतृत्व वाला आधिकारिक विपक्ष-ही वे हैं जिनकी वजह से ये चुनौतियां उभरी हैं.आर्थिक नीतियों या नव-उपनिवेशवाद के सामने घुटने टेकने के मामले में दोनों ही दल एक हैं. दोनों बहुलतावादी राजनीति और मूलगामी राजनीति के प्रबंधन की नीतियों की समझ के मसले पर एक-दूसरे के खिलाफ नजर आते हैं.हालांकि दोनों ही को उन आधारभूत सिद्धांतों को छोड़ देने का तनिक पछतावा नहीं है,जिन्होंने आधुनिक भारतीय राष्ट्र के दर्शन को गढ़ा और प्रभावित किया. इस तरह पैदा हुई राजनीतिक चुनौतियां और भी खतरनाक इसलिए लगती हैं क्योंकि राष्ट्रीय दर्शन के आधार को बचाने,इसके जनवादी तत्व को संरक्षित रखने और लोकशाही को जड़ों तक ले जाने वाली राजनीतिक ताकतें जो इसके मूल तत्व को बनाती हैं,अब तक न तो राजनीतिक प्रभाव के स्तर पर एक राष्ट्रीय मौजूदगी दर्ज करा सकी हैं (उदाहरण के लिए मुख्यधारा का वाम मोर्चा) या बिल्कुल स्थानीय हो गई हैं वे क्षेत्रीय दल जिनके जन्म की बुनियाद इस दर्शन से हुई, पर चुनावी राजनीति के दबाव से जिन्होंने बताए गए मुख्यधारा के दोनों गठबंधनों में किसी एक के साथ समझौता कर लिया.जैसे, बिहार में राजद, आंध्र प्रदेश में तेल-गुदेशम, तमिलनाडु में द्रमुक, उत्तर प्रदेश में सपा और बसपा व महाराष्ट्र में पीडब्ल्यूपी (या पीजैंट्स एंड वर्कर्स पार्टी). एक और धारा भी है,जो कई हिस्सों में बंटी है या फिर बिल्कुल ही अराजनीतिक (मसलों पर आधारित जनांदोलन,जैसे नेशनल अलायंस फॉर पीपल्स मूवमेंट)है. संगठित राजनीतिक प्रक्रिया का यह असंतुलन ही है, जो एक तरफ तो स्वार्थी तत्वों की तथाकथित नई राष्ट्रीय सर्वसहमति-जो आधुनिक भारतीय राजनीति के आधारभूत तत्वों के नकार पर आधारित है-के व्यवस्थित प्रोपेगैंडा को हवा देती है तो दूसरी ओर प्रजातंत्र की प्रक्रिया के अस्तित्व पर पड़ने वाले दुष्प्रभावों और आखिरकार राजनीति की शुचिता पर ही सवालिया निशान लगाता है. द्वंद्वात्मक तौर पर,यह स्थिति वैकल्पिक राजनीति के नए प्रयास की संभावना के दरवाजे भी खोलती है.मौजूदा राजनीतिक हालात चूंकि बीते समय की घटनाओं का दुहराव नहीं हैं जहां कांग्रेस के आधिपत्य को चुनौती दी जा रही थी, वैकल्पिक राजनीति की शुरुआत भी पहले की तरह तीसरे मोर्चे की पुनरावृत्ति से नहीं हो सकती. मौजूदा चुनौती कहीं अधिक आधारभूत है. इन चुनौतियों को हवा देने वाली ताकतों ने न केवल सत्ता, बल्कि विपक्ष की भी जगह को घेर लिया है. साथ ही,वे वैश्विक ताकतों के साथ भी गठजोड़ कर रही हैं.

स्वाधीनता-आंदोलन अलग-अलग तबीयत के साथ चला. इसका पूरा काल लगभग एक शताब्दी का था जिसने आधुनिक भारतीय राष्ट्र को जन्म दिया. इसने आधुनिक भारतीय राजनीति के दर्शन को जन्म और ताकत दी. इसके साथ ही इसने अपनी खाद भी उसी दर्शन से पाई. आखिर इसके आवश्यक तत्व कहां से बने? इसके संगठन, सिद्धांत, इसका पारिभाषिक स्वरूप कहां से बना ? इसे स्थायित्व कैसे मिला? इसकी अपील और ताकत क्या है? यदि कोई इस जटिल, बहुआयामी और दीर्घकालीन प्रक्रिया के मूल को जानना चाहेगा (एक स्तर पर अब भी यह लगातार व्यापक रूप ले रहा है) तो कुछ इस तरह की बातें सामने आएंगी-उपनिवेशवाद विरोधी और साम्राज्यवाद विरोधी आधुनिक भारतीय राजनीति का दर्शन,जो धार्मिक और सामाजिक बंटवारे के परे जाता है. इनमें निहित अन्याय और गैर-बराबरी को मिटाना. और, किसानों, कामगारों और कारीगरों की बहुसंख्यक आबादी का कल्याण. इन तत्वों ने संघर्ष और उसकी ऐतिहासिक प्रक्रिया को न सिर्फ प्रेरित किया,बल्कि उनको गढ़ा. उनकी परिणति इन तत्वों के परिष्कार और समृद्धि से तो हुई ही,बल्कि कुछ तत्वों के सुधार और बहिष्कार ने भी इनको गढ़ा. मसला यह नहीं कि राजनीतिक स्वाधीनता के खास वक्त में इन तत्वों को पूरी तरह या आंशिक तौर पर पा लिया गया. न ही यह कहा जा रहा है कि इनको एक तरह का निर्विवाद प्रभुत्व मिल गया या मौजूदा राजनीतिक परिदृश्य में चुनौती नहीं मिली. मेरा कहना तो यह है कि इन तत्वों के बगैर स्वाधीनता आंदोलन ने अपने मूलगामी आधार और अपील को खो दिया होता.साथ ही,इन मूल्यों के बगैर आधुनिक भारतीय राजनीति का दर्शन भी धुंधला पड़ जाता और हमने अपने संविधान में जिस भारतीय गणराज्य की कल्पना की है,वह एक खोखला और मृतक ढांचा ही बन कर रह जाएगा।

हमारा स्वाधीनता-आंदोलन तब अपने ताकतवर और गतिशील विकास के दौर मे पहुंचा जब ये तत्व अपने मूलगामी स्वरूप में देखने को मिले और तत्कालीन राजनीतिक तबके ने इनकी समावेशी तरीके से वकालत की. 1916 से 1936 ईस्वी के बीच के दो दशकों में यह आसानी से देखने को मिलता है,जब होमरूल और डोमीनियन स्टेटस के छोटे लक्ष्य की जगह पूर्ण स्वराज के बृहत्तर ध्येय की घोषणा ने आंदोलन के मूलगामी लक्ष्य की साफ- साफ घोषणा कर दी. राजनीतिक लक्ष्य में किसानों के हित के एजेंडे को शामिल करने और किसान-आंदोलन के उभार ने स्वाधीनता आंदोलन में अपनी अहमतरीन जगह बना ली.सबसे महत्व की बात यह कि खिलाफत आंदोलन और लखनऊ-पैक्ट से शुरू हुए इस दौर में हमने हिंदू-मुस्लिम एकता के औजार से साम्राज्यवादी ताकतों के बांटो और राज करो की नीति को दो-होते देखा. एक बार फिर इसी दौर में राजनीति का प्रस्थान बिंदु सामाजिक बंटवारे-खासकर शोषित जातियों और आदिवासियों-में निहित अन्याय से निपटने का हो गया था.

इसके बाद के दौर में हम राजनीतिक मंच पर समन्वय की त्रासद कमी देखते हैं. संकीर्ण मानसिकता,ओछी दृष्टि और बांटने वाली राजनीति-बहुसंख्यक और अल्पसंख्यकों में एक समान-ने राजनीतिक परिदृश्य को पूरी तरह घेर लिया. सैद्धांतिक दृढ़ता को व्यावहारिकता के नाम पर बलि चढ़ा दिया गया. थके हुए राजनीतिक नेतृत्व ने-जो एक उग्र संघर्ष की इच्छाशक्ति खो चुका था-अपनी पहुंच के भीतर की किसी भी चीज को बस थाम लेने की कोशिश की. इसका पूरा परिणाम यह हुआ कि खंडित स्वाधीनता और दोगली राजनीति ने इस उपमहाद्वीप में औपनिवेशिक शक्तियों के लगातार हस्तक्षेप की गुंजाइश के दरवाजे पूरी तरह खोल दिए. प्रजातंत्र और समन्वयवादी राजनीति की धार लगातार कमजोर हुई.इसके बावजूद भारतीय राजनीति-जो बंटवारे के सदमे को झेलकर उभरी थी-ने आधुनिक भारत के दर्शन को याद करते हुए खुद को बनाने की कोशिश की. हमारे पास एक संप्रभु, धर्मनिरपेक्ष, मूलगामी और समाजवादी गणराज्य की कल्पना संविधान में ही निहित है.वह नेहरूवादी युग की ऐतिहासिक देन थी.एक ओर जहां उपनिवेशवाद-विरोध हमें आत्मनिर्भर विकास की रणनीति और निर्गुट राजनीति में देखने को मिलता है, वहीं दूसरे तत्व खासकर किसान और कामगार वर्गों के हित की नीतियां और दशकों पुराना अन्याय और गैर-बराबरी- जो सामाजिक बंटवारे में निहित है-को मिटाने की रणनीति को राजनीतिक व्यवहार में उतना महत्व नहीं दिया गया. साथ ही,हिंदू-मुस्लिम एकता-दूसरा महत्वपूर्ण तत्व,जो धर्मनिरपेक्षता के सिद्धांत में अंतर्निहित है-का राजनीतिक हथियार के तौर पर ही इस्तेमाल किया गया. इस तरह, सिद्धांतों से भटकाव को राजनीतिक जरूरतों की वजह से समन्वय की नीति के पतन से भी जोड़ा जा सकता है.इसी में साठ और सत्तर के दशक में कांग्रेसी वर्चस्व को मिलने वाली चुनौती के बीज देखे जा सकते हैं. फिर भी,यह कुल मिलाकर धुंधला-परिदृश्य था,पर भारत के दर्शन पर पूरा ग्रहण नहीं लगा था. यह राजनीतिक इच्छाशक्ति की कमी थी,पर दर्शन को पूरी तरह से छोड़ नहीं दिया गया था. ग्रहण और पूरा भटकाव पिछले दो दशकों की देन है. फिलहाल, जनता का राजनीतिक एजेंडा (मुख्यधारा के सत्ताधारी और विपक्षी गठबंधन से अलग है और जिसे भारत एक उभरती ताकत और शाइनिंग इंडिया में देखा जा सकता है)दरअसल इस ग्रहण और भटकाव से ही उपजा है.इन दशका ने वैश्विक स्तर पर उपनिवेशवाद के विकास का एक नया दौर देखा है. इसने अब और भी उग्र,अधिक लूटने वाला,व्यापक और वैश्वक रूप ले लिया है. वैश्विक स्तर पर इसने नए और गंभीर अंतर्विरोध पैदा किए हैं. इन तत्वों के ग्रहण और आधुनिक भारतीय राजनीति के दर्शन से भटकाव-जिसके हम गवाह हैं और जिसकी वजह से जन के राजनीतिक एजेंडे की पैदाइश हुई-को समकालीन वैश्विक वाता-वरण में देखने की जरूरत है.

फिलहाल जनता के राजनीतिक एजेंडे को ये तीन मसले तय कर रहे हैं. पहले नंबर पर अल्पसंख्यकों का विराग और उनमें गहरे धंसी असुरक्षा की भावना है, फिर दलितों का उभार और सत्ताधारी कुलीनों की इस पर जहरीली और नकारात्मक प्रतिक्रिया तीसरा तत्व है. इनमें से हरेक मसला गणतंत्र के आधारभूत सिद्धांतों से सीधे तौर पर जोड़ा जा सकता है. जनता के राजनीतिक एजेंडे में इनका वर्चस्व सीधे तौर पर इन सिद्धांतों के ग्रहण से द्वंद्वात्मक प्रतिक्रिया के तौर पर उभरा है.वैश्विक वातावरण ने सत्ताधारी वर्ग को इन सिद्धांतों के त्याग के लिए प्रोत्साहन देकर ढीठ बनाया है.1990 के दशक के बाद के आर्थिक सुधारों ने नेहरूवादी युग के आत्मनिर्भर आर्थिक सिद्धांत को सिर के बल खड़ा कर दिया है. इसकी वजह से पूंजीवाद और साम्राज्यवाद की नई वैश्विक व्यवस्था के साथ अटूट गठबंधन की नई व्यवस्था अपना ली गई.2007 ईस्वी का भारत-परमाणु करार दरअसल वैश्विक व्यवस्था के नवउपनिवेशनादी ढंग को ही न पलटा जा सकने वाला औजार बनाएगा. यह विश्व व्यवस्था दुनिया के तेल और गैस स्रोतों पर आधिपत्य जमाने पर आमादा है,जिसके बिना फिलहाल प्रभावशाली देश अपने आधिपत्य को बनाए नहीं रख सकेंगे,बल्कि सच पूछिए तो उनकी हालिया जीवनशैली ही बिगड़ जाएगी.यह व्यवस्था जमीन और पानी के उपयोग के नए तरीके तलाश चुकी है,और जमीन,पानी और बीज के आधारभूत स्रोतों का निगमीकरण करना चाह रही है.आखिरकार यह व्यवस्था खुद को केवल प्रजातंत्र के नकार और कामगार वर्ग के दमन से ही बनाए रख सकती है संक्षेप में,फासीवादी राजनीति को बढ़ावा देकर ही यह बनी रहेगी. इस व्यवस्था की हरेक जरूरत आधुनिक भारतीय राजनीति के हमारे दर्शन के खिलाफ खड़ी है.तेल और गैस स्रोतों के आधिपत्य की वासना को सभ्यताओं के संघर्ष के छद्म-से जायज ठहराने की कोशिश की जाती है.इस वासना ने व्यवस्थित तौर पर इस्लाम से भय (कई बार इसे आतंक के खिलाफ वैश्विक युद्ध के बेकार और निरर्थक सिद्धांत की गोद में बिठा दिया जाता है) को पैदा किया है जो नवउपनिवेशवादी व्यवस्था की रणनीति का अनिवार्य हिस्सा बन गया है. जमीन और पानी के संसाधनों का निगमीकरण खेती के संकट को और बढ़ाएगा ही जो कि बेहद घातक है,क्योंकि यह भारतीय कृषि-को वैश्विक पूंजीवादी कृषि व्यवस्था से जोड़ने का ही परिणाम नहीं तो और क्या है.

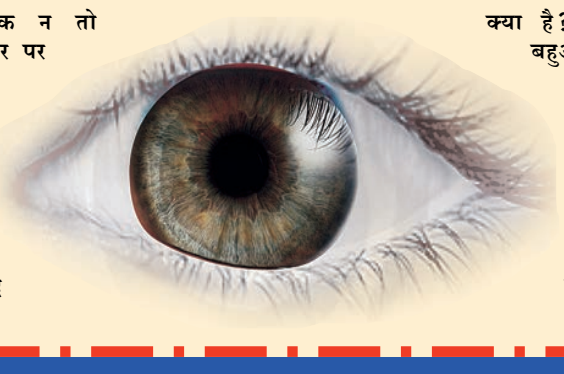

कांग्रेस के राजनीतिक वर्चस्व में कमी तो आई,पर उसका प्रभाव पूरी तरह से खत्म नहीं हो सका. ना ही इससे राजनीति के कांग्रेसी दर्शन और दृष्टि में गुणात्मक परिवर्तन आ सका,जो खुद ही उस व्यापक राजनीतिक सम्मति का कमजोर-रूप था, जो स्वाधीनता-आंदोलन में अंतर्निहित था और जो स्वतंत्रता के बाद के नेहरूवादी युग तक भी जीवित था.

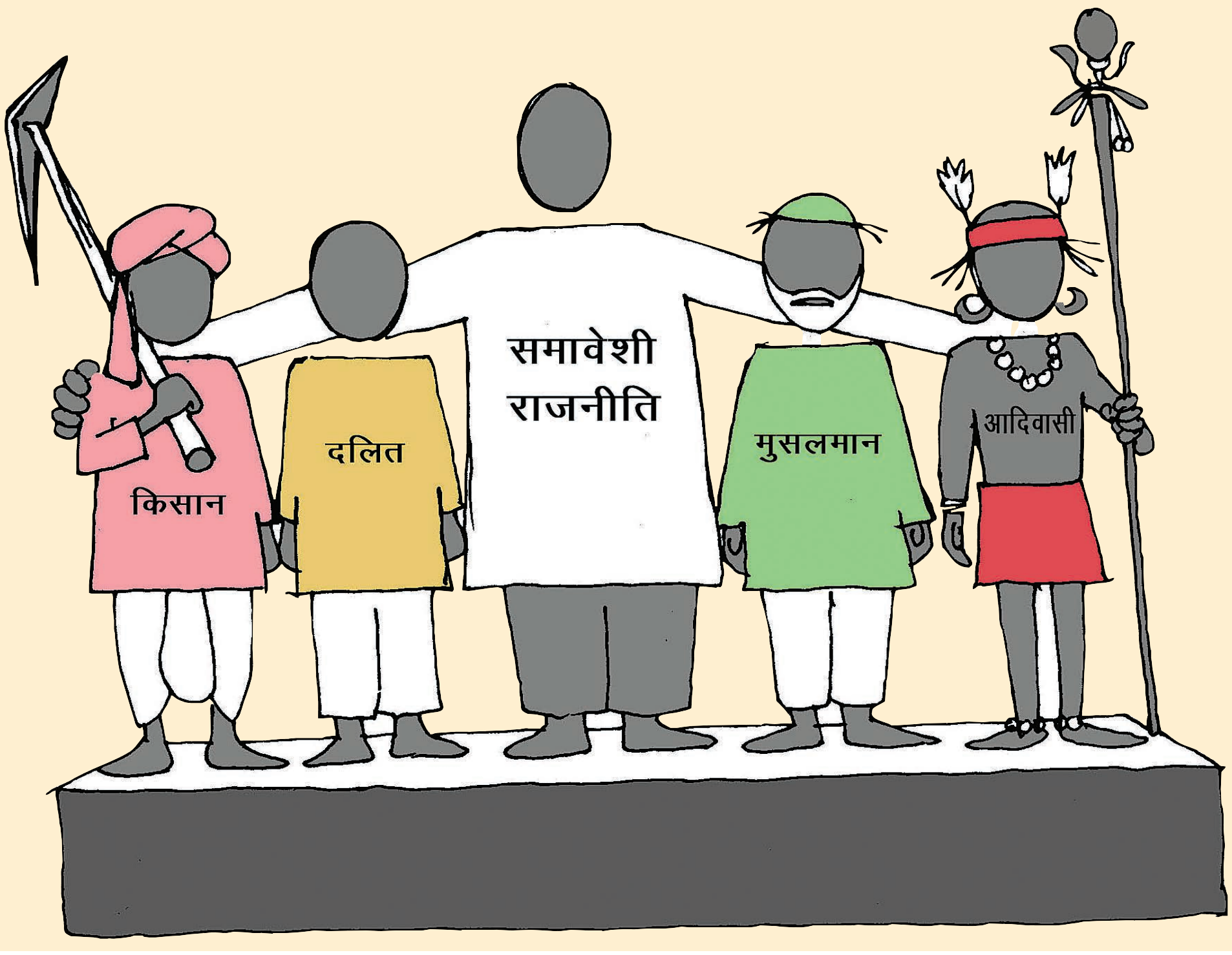

मासूमियत पर बरसी मौत की मिसाइल

राहुल मिश्रा

किसी दिन बम के धमाकों की आवाज थम जाएगी. पंछियों की तरह उड़ते लड़ाकू विमान नज़र नहीं आएंगे. मिसाइलों का कहर खत्म हो जाएगा. बंदूकों से गोलियां चलनी बंद हो जाएंगी. गज़ा में बिजली और पानी की व्यवस्था फिर से बहाल हो जाएगी. गज़ा के वे सारे घर फिर से बन जाएंगे. टूटी हुई खिड़कियों पर फिर से शीशे लग जाएंगे. सब कुछ तथाकथित तौर पर सामान्य हो जाएगा, लेकिन इज़रायली हमले में हुए बच्चों की मौत की खौफनाक यादें गज़ा को कई सालों तक झकझोरती रहेंगी.

पांच जनवरी 2009 की एक आम दोपहर. दोपहर के एक बजे थे. इज़रायल ने गज़ा पर मिसाइल दाग दी. यह हमला गज़ा की एक गरीब बस्ती पर हुआ. मरने वालों में आठ साल की आयशा भी थी. वह दूसरी क्लास में पढ़ती थी. उसके पिता मजदूर हैं. पिछले बीस साल से मजदूरी करके उन्होंने अपने परिवार के लिए एक कमरे का घर बनाया था जो एक ही झटके में मिट्टी में मिल गया. जिस वक्त हमला हुआ, वह दुल्हन-सी सजी थी. अपने भाइयों के साथ घर में खेल रही थी. अचानक घर की छत पर एक मिसाइल आ गिरी. आयशा के साथ उसके भाई मोहम्मद और सैय्यद भी मारे गए. मोहम्मद 10 साल का था और सैय्यद 12 का. इज़रायली हमलों में उन मासूमों की बलि चढ़ गई है जिन्हें यह भी पता नहीं कि इज़रायल और फिलिस्तीन क्या हैं, मुसलमानों और यहूदियों में फर्क क्या होता है. आयशा के पिता कहते हैं कि इस लड़ाई में मरना आसान है, लेकिन अपने बच्चों को खोकर जीना बहुत मुश्किल.

इस घटना के एक दिन पहले, चार जनवरी को चौदह साल का अब्दुल रहीम अबु हलीमा इज़रायली हमले का शिकार हुआ. वह चौदह साल का था. उसकी मौत तब हुई जब इज़रायल ने उत्तर-पूर्वी गज़ा के अतात्रा इलाके पर व्हाइट फॉस्फोरस आर्टिलरी शेल का हमला किया. मरने वालों में वह अपने परिवार से अकेला नहीं था. उसके साथ ही इसके दो भाइयों हजमा और जायेद और बहन शाहेद की भी मौत हो गई. उम्र में ये तीनों इससे छोटे थे. एक आठ साल का, दूसरा छह साल का और बहन तो केवल पंद्रह महीने की. पूरा परिवार मिसाइल हमले के डर से घर में बंद था, लेकिन शायद उन्हें यह पता नहीं था कि यही घर उनकी कब्रगाह बन जाएगा. धमाके के साथ जब घर की दीवार टूटी, तो खिड़कियों के कांच गोलियों की तरह उनके मासूम बदन को छलनी कर गए.

अब्दुल रहीम का चचेरा भाई मोहम्मद अबु उसकी तरह चंचल नहीं था. वह पढ़ने में अव्वल था. विदेश में पढ़ाई करना चाहता था. स्वभाव से शांत था. हमेशा लोगों की मदद करता था. शायद यही उसकी गलती थी. जब इलाके पर हमला हुआ, तो वह मदद के लिए दौड़ा. उसका चचेरा भाई मातार खून से लथपथ था. वह उसे कंधे पर उठा कर ट्रैक्टर की ट्रॉली पर ले जा रहा था कि इज़रायली सैनिकों की नजर उस पर पड़ गई. सैनिकों ने दोनों पर अंधाधुंध गोलियां बरसा दीं. दोनों वहीं ढेर हो गए. इस हमले के दो दिन बाद एक ऐसी घटना घटी जिसे सुनकर किसी का भी कलेजा फट जाए.

पूर्वी गज़ा के इजंबित गांव में इज़रायली सेना टैंक के साथ घुसी और कुछ सैनिक एक घर के सामने जमा हो गए. उस घर के लोगों को पहले बाहर आने को कहा गया. जब वे बाहर आ गए, तब उन पर दनादन गोलियों की बरसात कर दी गई. इस घटना में सात लोगों की मौत हुई, लेकिन इज़रायली सेना द्वारा महज दो साल की रब्बो की हत्या ने इंसानियत की रूह को भी झकझोर डाला. जिस वक्त उसे गोलियां लगीं, उसकेहाथ में एक खिलौना था. सेना ने रब्बो के साथ उसकी सात साल की बहन सौआद को भी मार डाला. इस फायरिंग में उसकी चार साल की बहन सामर को भी गोलियां लगीं, लेकिन वह बच गई. वह बुरी तरह से घायल है और उसे लकवा मार गया है. हमले के बाद इज़रायली सेना ने उस घर पर बुलडोज़र चला दिया. इस हमले की खबर सुनते ही इन बच्चियों के पिता खालिद घर पहुंचे, तो उनकी आंखों के सामने पूरे परिवार की लाश थी. सामर दर्द से छटपटा रही थी. रब्बो की सांस रुक चुकी थी. सिर्फ खिलौना पहले की तरह महदूद था रब्बो के हाथों में, खालिद की तो पूरी दुनिया ही बदल चुकी थी. खालिद रो-रोकर पत्रकारों से पूछ रहे थे कि इज़रायलियों ने उनकी बेटियों को क्यों मारा. आखिर उनके परिवार का हमास के साथ तो कोई रिश्ता नहीं था.

शायद अबु सुल्तान, उम्र आठ साल, पांच जनवरी की सुबह. जबालिया के शरणार्थी शिविर में वह अपने पिता की गोद में पुरसुकून बैठी थी. अचानक आसमान में एक इज़रायली हेलीकॉप्टर नजर आया जो गोलियां बरसाता उनकी तरफ बढ़ता चला रहा था. जब तक उसके पिता खुद को और अपनी बच्ची को किसी महफूज जगह छुपा पाते, कि एक गोली शायद के सिर पर लगी और वह वहीं ढेर हो गई. हमले में मरने वालों में दस से ज्यादा बच्चे थे.

अदाम मुतैर, सत्रह साल का ये नौजवान इज़रायली सेना की गोलियों का शिकार हो गया. ये बेत लाहिया का रहने वाला था. इसका पूरा परिवार कई दिनों से अपने घर के अंदर छिपा था. पूरे इलाके को इज़राइयली सेना ने घेर रखा था. खाने के लिए सामान नहीं था. नौ तारीख की दोपहर दो बजे वह छत पर कबूतरों को देखने गया. लेकिन उसे पता नहीं था कि घर के बाहर इज़रायली सैनिक ताक लगाए बैठे थे. इन सैनिकों में शार्प शूटर थे. वह कबूतर देखने छत पर पहुंचा और छिपने के लिए झुक गया लेकिन उससे बस छोटी एक भूल हो गई. उसके सिर का छोटा हिस्सा लिंग के ऊपर था जिसे इज़रायली सैनिकों ने देख लिया. एक ही झटके में तीन गोलियां उसके सिर को उड़ा ले गईं.

छह जनवरी को जब इज़रायल ने जाबलिया के स्कूल पर हमला किया, तो बच्चों का शोरगुल मातम में बदल गया. चारों तरफ बच्चों की चीखने और रोने की आवाज फैल गई. हर ओर बच्चों की लाशें बिखरी पड़ी थीं. मोहम्मद शाकूरा उस स्कूल में नहीं पढ़ता था. हमले के वक्त वह स्कूल के बाहर की एक गली में अपने दोस्तों के साथ खेल रहा था. वह नौ साल का था. धमाके की आवाज़ सुनते ही उसके पिता वसीम लोगों की मदद के लिए दौड़े. वह एक-एक कर लाशों को उठाकर एंबुलेंस में ले जा रहे थे. जब वह एक घायल की मदद कर रहे थे, तभी अचानक एक लाश को पलट कर देखा. उसे देखते ही उनका दिमाग सन्न रह गया. शाकूरा का शरीर सड़क पर औंधे मुंह पड़ा था. उसकी पीठ पर ज़ख्म थे और उसकी आंखें खुली हुई थीं.

स्कूल के बाहर मरने वालों में लीना हसन भी थी. वह सिर्फ दस साल की थी. उसे दोस्तों के साथ गलियों में घूमने का खूब शौक था. छह जनवरी को जब जबालिया के स्कूल पर हमला हुआ तब वह अपने दोस्तों के साथ उस गली में मौजूद थी. उसने कुछ देर पहले अपने पिता से पैसे लिए थे. वह अपने छोटे भाई के लिए मिठाई खरीदने जा रही थी. जब धमाके की आवाज गूंजी, तब लीना के पिता अब्दुल उसे ढूंढने घर से बाहर निकले. काफी देर तक वह लाशों के बीच अपनी बेटी का चेहरा तलाशते रहे, लेकिन वह नहीं मिली. तब अचानक उनकी नजर एक लाश पर गई. वह सिर्फ कपड़े से पहचान सके कि यह उनकी बेटी लीना है... उसका सिर गायब था. अब्दुल कहते हैं कि लीना के छोटे भाई और बहन ने उसके बारे में पूछा तो उन्होंने बताया कि वह अल्लाह के पास चली गई है...अब उनके दूसरे बच्चे कहते हैं कि वह अकेले क्यों गई, हम लोग भी उसके साथ ही जाएंगे.

गज़ा की गलियों में मौत का खेल

इज़रायल एक ना खत्म होने वाले युद्ध को लड़ रहा है. पहले तो यह अपनी नीतियों से आतंकवादी बनाता है, फिर उसे खत्म करने के लिए युद्ध करता है. फिलिस्तीन और इज़रायल की लड़ाई इस बात की गवाह है कि इज़रायल अपनी स्थापना के समय से ही पीढी-दर-पीढ़ी आतंकवादी तैयार करता है और फिर उसके खात्मे के लिए जद्दोजहद करता है.

छह जनवरी 2009 को जब जाबलिया के स्कूल पर इज़रायल ने हमला किया, तो पूरी दुनिया में हड़कंप मच गया. लोगों की समझ में ही नहीं आया कि इज़रायल ने इन बच्चों को क्यों निशाना बनाया. छोटे-छोटे बच्चे जो शायद इज़रायल और फिलिस्तीन या हमास का मतलब भी नहीं जानते, उन्हें भी अपनी जान गंवानी पड़ी. इन बच्चों ने इज़रायल का क्या बिगाड़ा था? इज़रायल को इन बच्चों से क्या खतरा है? इन बच्चों का हमास से क्या रिश्ता है? क्या छोटे-छोटे बच्चों को मारना इज़रायल की सोची-समझी रणनीति का नतीजा है? क्या यह षडयंत्र है? ऐसे कई सवाल हैं जो फिलिस्तीन की जनता पूरी दुनिया से पूछ रही है.

जाबलिया स्कूल के बारे में तो दुनिया भर में खबरें छपीं. स्कूल के अंदर क्या हुआ, इसकी पूरी जानकारी आ चुकी है. लेकिन स्कू ल के बाहर गज़ा में कितने बच्चे मारे गए, उनके बारे में सिर्फ आंकड़े आए. वे कैसे मारे गए. इज़रायली सेना ने किस तरह मासूम लोगों का खून बहाया. हादसे की सही रिपोर्ट और इससे जुड़ी जानकारी छन-छन कर ही आती रही.

फिलिस्तीन में इज़रायली सेना ने जो कोहराम मचाया है, उससे तो लगता है कि हम इक्कीसवीं नहीं बारहवीं सदी में जी रहे हैं. इज़रायल किसी चंगेज़ खान और तैमूर लंग की तरह दुश्मनों को नेस्तोनाबूद करने पर तुला है. इज़रायल ने इस बार ना तो किसी अंतरराष्ट्रीय कानून की फिक्र की और ना ही मानवता को तरजीह दी. इसमें कोई संदेह नहीं है कि इज़रायल युद्ध अपराधी है. इस बार फिलिस्तीन में मारे गए लोगों में 95 फीसदी आम नागरिक थे. उनका ना तो हमास से कोई रिश्ता था, ना ही वे सैनिक थे. मरने वालों में 30 फीसदी से ज्यादा मासूम बच्चे थे. ऐसा लगता है कि इज़रायल के हमले का मकसद फिलिस्तीन की एक पूरी पीढ़ी को खत्म करना है. उनकी यह योजना है कि बच्चों को खत्म करो ताकि आने वाले समय में फिलिस्तीन में कोई नौजवान ना दिखे.

जिन बच्चों ने मौत का यह तांडव देखा है और अपने दोस्तों को खोया है, वे इस युद्ध को भूल नहीं पाएंगे. इसका असर फिलिस्तीन के समाज पर बहुत ही बुरा होने वाला है. ऐसी स्थिति में सबसे पहले राजनीतिक और सामाजिक नेताओं की साख खत्म होती है. लोग उनकी बातों को मानने से इनकार कर देते हैं. अगर ऐसा हुआ तो फिर शांति के हर प्रयास का विफल होना तय है. जब लोग सरकार और नेताओं की ही बात नहीं मानेंगे, तो फिलिस्तीन के साथ दुनिया का कोई भी समझौता, कोई भी संधि लागू नहीं हो पाएगी. इस युद्ध ने फिलिस्तीन के समाज को उस मोड़ पर लाकर खड़ा कर दिया है जहां सारे तर्क, सारी समझ खत्म हो जाती है.

एक रिपोर्ट के मुताबिक गज़ा में बच्चों की दिमागी हालत ठीक नहीं है. अपने बच्चों की लाशों को गोद में लेकर रोते हुए पिता की तस्वीर का बच्चों पर बुरा असर पड़ता है. उन्हें लगता है कि उनके पिता उनकी रक्षा करने में सक्षम नहीं हैं. इसलिए फिलिस्तीन के ज्यादातर बच्चे अवसाद और तनाव के शिकार हो चुके हैं. ये लोग बहुत जल्दी ही गुस्से में आ जाते हैं. इसके अलावा फिलिस्तीन की गरीबी और असुविधाओं को लेकर लोगों में नाराजगी है. उनकी मानसिक हालत ऐसी हो चुकी है कि वे जरा सी बात पर मरने-मारने पर उतर जाएंगे.

जिनकी उम्र मां-बाप की गोद में खेलने की थी, गलियों में शोर मचाने की थी, स्कूल में शरारत करने की थी, वे अब इन तमाम सुखों से महरूम होकर किसी दूसरी ही दुनिया के हो चुके हैं. दुनिया भर के तमाम बड़े नेताओं को यह सोचना होगा कि जिन बच्चों ने इस युद्ध को देखा, अगर वे बड़े होकर बंदूक उठा ले तो उसमें उनकी कोई गलती नहीं होगी. जिस परिवार ने अपने लाडलों को खोया है, अगर वे किसी आतंकी संगठन के साथ मिल जाएं, तो इसमें उनका कसूर क्या है.

शैतानी जिस्मों के बीच

कांपती नन्ही रूहें

रूबी अरुण

मुझे देखते ही ललिता के चेहरे पर बड़ी तीखी-सी मुस्कुराहट फैल गई. दूसरी बार मिली थी मैं ललिता और उसकी बहन भारती से. ललिता को मेरे आने का कारण मालूम था. वह जानती थी कि मैं उसकी पीड़ा कुरेदने आई हूं. उसके और भारती के वे जख्म निहारने आई हूं जो उसके पिता ने ही उन्हें दिए हैं.

महज बारह साल की ललिता और 10 साल की भारती ने रिश्तों का वो घिनौना चेहरा देखा और भोगा है जिसे सोचकर भी रूह कांप उठती है. इतनी कच्ची उम्र में ललिता और भारती को औरत और मर्द के रिश्तों की सारी परिभाषाएं मालूम हैं. इन सबसे उनके हैवान बाप ने ही उन्हें वाकिफ कराया है-उनके वजूद को तार-तार कर के, पाकीज़ा रिश्तों की चिंदियां उड़ा के, बाप-बेटी के रिश्तों को शर्मसार करके. इस गुनाह में उसके पिता लालबाबू यादव के भागीदार बने हैं ललिता का चाचा रामबाबू यादव, ममेरा भाई प्रेम और मौसेरा भाई विनोद. दिल्ली के लोधी कॉलोनी के इंदिरा गांधी कैंप की झुग्गी नंबर 112/15 में रहने वाली ललिता और भारती की मां छह साल पहले गुजर गई. मरते वक्त उसे इस बात का सुकून जरूर रहा होगा कि उसकी बेटियों के सिर पर बाप का साया है और वे महफूज हैं. पांच भाई-बहनों के साथ ललिता और भारती के दिन कटने लगे.

उस वक्त ललिता महज छह साल की थी, भारती की उम्र चार साल और पुनीता तीन साल की थी. दो छोटे भाई दीपक और सूरज दो और एक साल के थे. ललिता और भारती दूध पीती उम्र में ही छोटे भाई बहनों की जिम्मेदारी उठातीं और पिता के लिए रोटियां पकातीं अचानक बड़ी हो उठीं. चार साल तक तो सब कुछ ठीक चलता रहा. बिहार के दरभंगा जिले से रोजी-रोटी की खातिर दिल्ली आया लालबाबू यादव नए-पुराने कपड़ों की रेहड़ी दिल्ली, गुडगांव और मानेसर में अपने भाई के साथ मिलकर लगाता और परिवार का खर्च चलाता रहा. वह शराब तो पहले भी पीता था, इधर इस लत ने उसे बुरी तरह अपनी गिरफ्त में ले लिया था.

इसी बीच एक साल पहले एक दिन उसकी निगाह नहाती हुई ललिता पर पड़ी और हवस के मारे लालबाबू ने अपनी बेटी की ही अस्मत को रौंद डाला. जिस बेटी को उसने जन्म दिया था, उसी को नरक की आग में झोंक दिया. पाप का यह सिलसिला जो शुरू हुआ, तो फिर इसने रुकने का नाम न लिया. ललिता कराहती- बिलखती बाप के पैर पकड़ती, पर लालबाबू अब इंसान कहां रहा था. वह ललिता की पिटाई करता और उसे चुप रहने के लिए धमकियां देता. लालबाबू को लोगों की परवाह न थी, लेकिन ललिता को यह डर था कि आस-पड़ोस को उसके बाप के कुकर्मों की भनक न लगे. इसका हश्र यह हुआ कि लालबाबू के गुनाह में उसका भाई रामबाबू भी शरीक हो गया. ललिता इस उत्पीड़न को अपनी नियति मान चुकी थी. उधर लालबाबू की हिम्मत बढ़ चुकी थी. उसने अपनी दूसरी बेटी भारती की इज्जत के साथ भी खिलवाड़ कर डाला. खुद के साथ हो रहे जुल्मों को सहती ललिता को यह कतई बर्दाश्त नहीं था. उसे लगा कि अब उसकी दूसरी छोटी बहनें भी इस दलदल में फंस जाएंगी. वह सोचती रही और रास्ते तलाशती रही.

आखिरकार 19 जनवरी को उसने अपनी बहन भारती का हाथ पकड़ा और लोधी कॉलोनी में एमसीडी के स्कूल पालिका निवास की टीचर वेदमति के पास चली आई. वेदमति भारती और ललिता को पढ़ाती थी. ललिता ने अपनी व्यथा वेदमति को सुनाई. तब एक और भयानक सच सामने आया कि ललिता और भारती के साथ उसके ममेरे भाई प्रेम और मौसेरे भाई विनोद ने भी कई बार जबरदस्ती की थी. वेदमति को पहले तो यकीन ही नहीं हुआ. फिर उसने लालबाबू यादव को बुलाकर डांट लगाई. लालबालू ने गुनाह क़बूल कर माफी मांगी और लिखकर दिया कि उससे दोबारा यह पाप नहीं होगा, पर 30 जनवरी को वह अपने वादे से मुकर गया.ललिता ने फिर वेदमति से गुहार लगाई. तब वेदमति ने एक स्वयंसेवी संस्था की वकील मीनाक्षी लेखी से संपर्क किया. वह दोनों पीड़ित बच्चियों को लेकर लोधी कॉलोनी थाने पहुंचीं.

उन्होंने लोधी कॉलोनी थाने के एसएचओ रजिंदर सिंह को पूरी बात बताई. तब हकीकत जानने के लिए बच्चियों का मेडिकल कराया गया. इसमें बलात्कार की पुष्टि हुई. पुलिस ने बच्चियों के बयान के आधार पर पिता लालबाबू यादव, चाचा रामबाबू यादव, ममेरे भाई प्रेम और मौसेरे भाई विनोद को नामजद आरोपित बनाते हुए मामला दर्ज किया. फिर दिल्ली , गुड़गांव और मानेसर में छापेमारी कर चारों आरोपितों को गिरफ्तार किया गया. आरोपितों ने अपना गुनाह कबूल लिया है और फिलहाल जेल में हैं.

ललिता, भारती और पुनीता को स्नेहालय बालिका गृह, पालम गांव, हरिजन कॉलोनी में भेज दिया गया है और दीपक और सूरज पालम गांव के ही बाल गृह डॉन-बास्को में रखे गए हैं.

जिस बेटी को उसने जन्म दिया था, उसी को नरक की आग में झोंक दिया. पाप का यह सिलसिला जो शुरू हुआ, तो फिर इसने रुकने का नाम न लिया. ललिता कराहती- बिलखती बाप के पैर पकड़ती, पर लालबाबू अब इंसान कहां रहा था. वह ललिता की पिटाई करता और उसे चुप रहने के लिए धमकियां देता. लालबाबू को लोगों की परवाह न थी, लेकिन ललिता को यह डर था कि आस-पड़ोस को उसके बाप के कुकर्मों की भनक न लगे.

अब ललिता अपने बाप और बीती जिंदगी के बारे में सोचना तक नहीं चाहती. साल भर से दमित होती ललिता की रग-रग में अब आक्रोश भरा है. भारती की आंखों में जहां छटपटाहट दिखती है, वहीं ललिता के चेहरे पर जलजला जैसे आकर रुक गया-सा लगता है. अपनी उंगलियों को तोड़ती- मरोड़ती ललिता हर किसी को खा जाने वाली निगाहों से देखती है. उसे न तो अब किसी पर यकीन है, ना ही किसी रिश्ते पर भरोसा. पर इस रीसती-कसकती वेदना में उसे एक बात का पुरजोर सुकून है कि उसने अपनी बहनों की जिंदगी बर्बाद होने से बचा ली.

महिला आरक्षण के नाम पर झोंकी जा रही है देश की आंख में धूल

जब प्रतिभा पाटिल देश की राष्ट्रपति बनाई गईं, तो लगा था कि देश में महिला सशक्तिकरण की दिशा में एक अद्भुत क्रांति हो रही है. इसके बरक्स आज की स्थिति पर गौर करें और राजनीतिक दलों का रवैया देखें, तो साफ है कि यह सब कुछ बस प्रतीकात्मक होकर ही रह गया.

यह विश्व के सबसे बड़े लोकतांत्रिक देश की विडंबना है. यह राजनीतिक दलों की उलझी, अशांत और अव्यवस्थित दृष्टि है जो समन्वय नहीं चाहती, समानता नहीं चाहती. यही कारण है कि 14वीं लोकसभा के अंतिम सत्र में भी महिला आरक्षण विधेयक एक बार फिर संसद की चौखट तक नहीं पहुंच पाया. वैसे सरकार ने इस सत्र में 27 विधेयक पारित करने की तैयारी तो की थी, पर महिला आरक्षण विधेयक पर सरकार ने चुप्पी साध रखी थी. प्रमुख विपक्षी पार्टी भाजपा ने भी इसे कोई खास तवज्जो नहीं दी. पिछले दस साल से महिलाओं के आरक्षण के सवाल पर बहस चल रही है, लेकिन अब भी इस पर आम सहमति बनने के आसार नहीं दिख रहे.

एनडीए सरकार के दौरान महिलाओं को आरक्षण देने का प्रस्ताव 1998 और 1999 में पेश किया गया था. इसे चर्चा के लिए कार्यसूची में भी रखा गया था, पर कई सदस्यों ने इस विधेयक का पुरजोर विरोध किया और विधेयक की प्रतियां तक फाड़ दीं. यह एक ऐसा वादा है जो यूपीए सरकार ने अपने न्यूनतम साझा कार्यक्रम में भी किया था. 2005 के अगस्त में तत्कालीन गृहमंत्री शिवराज पाटिल, रक्षा मंत्री प्रणव मुखर्जी और तत्कालीन संसदीय कार्यमंत्री गुलाम नबी आजाद ने महिला आरक्षण विधेयक पर आम सहमति बनाने की कोशिश भी की. इन्होंने विभिन्न दलों के नेताओं से मुलाकात की. भाजपा के अलावा सीपीएम, सीपाआई, तेलगूदेशम और तेलंगाना राष्ट्र समिति के नेताओं से बातचीत की. यह प्रस्ताव भी रखा गया कि अगर लोकसभा की मौजूदा व्यवस्था में आरक्षण पर आपत्ति है, तो लोकसभा की सीटें 545 से बढ़ाकर 900 किए जाने पर भी विचार किया जा सकता है. लेकिन आम राय फिर भी नहीं बन सकी. कांग्रेस, भाजपा और वामपंथी दल तो हमेशा इस विधेयक के समर्थन में रहे, पर समाजवादी पार्टी और अन्य ने इस आधार पर इस विधेयक का विरोध किया कि इसमें पिछड़ी जाति की महिलाओं के लिए कोई आरक्षण नहीं है. खासकर सपा प्रमुख मुलायम सिंह यादव ने इस विधेयक का हमेशा मुखर विरोध किया. उनकी पार्टी को 33 फीसदी की जगह महज 10 फीसदी आरक्षण मंजूर है, वह भी इस शर्त पर कि यह मसला राजनीतिक दलों पर ही छोड़ दिया जाए कि वे 10 फीसदी टिकटें महिलाओं को देना सुनिश्चित करें. मुलायम की हां में हां लालू यादव ने बखूबी मिलाई. लालू ने कहा कि वह 33 फीसदी आरक्षण के खिलाफ नहीं हैं, लेकिन मांग की कि इसमें मुस्लिम और पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षण के भीतर आरक्षण का प्रावधान किया जाए. इन सबका नतीजा यह हुआ कि यूपीए में भी आरक्षण के मसले पर सहमति नहीं बन सकी. एनडीए में इस विधेयक को लेकर नेता एकमत रहे हों, ऐसा भी नहीं था. जब यूपीए सरकार इस विधेयक को संसद में पेश करने की तैयारी कर रही थी और भाजपा नेता लालकृष्ण आडवाणी ने पूर्ण समर्थन देने का आश्वासन दिया था, तभी भाजपा की उस समय की प्रमुख नेता उमा भारती ने अनुसूचित जाति और जनजाति के लिए अलग से आरक्षण की मांग करते हुए लंगड़ी मारी थी.

कितने शर्म की बात है कि एक तरफ तो हम दुनिया के सबसे बड़े लोकतंत्र होने का दावा करते है, वहीं दूसरी तरफ हमने लोकतंत्र में फैसले लेने वाली संसदीय संस्थाओं से महिलाओं को बाहर कर रखा है. वह भी तब, जब आज देश की महिलाओं ने परंपराओं और कुरीतियों की बेड़ियां तोड़ कर अपने संघर्ष और लड़ाई के बलबूते खुद का वजूद कायम किया है अपनी काबिलियत साबित की है. अगर दूसरे देशों की संसदों पर नज़र दौड़ाएं, तो हमारे हाथ में बेशर्मी के अलावा और कुछ नहीं आएगा. ज़्यादा दूर जाने की ज़रूरत नहीं, अपने पड़ोसी पाकिस्तान की नेशनल असेंबली में महिलाओं के लिए दस फीसदी आरक्षण

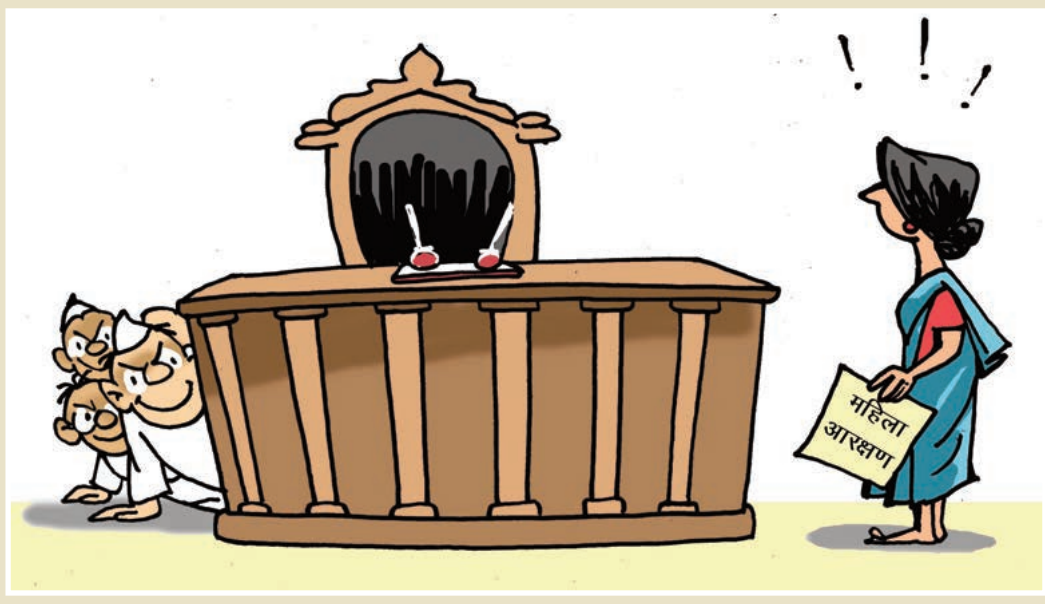

का प्रावधान है. अफगानिस्तान की लोया जिरगा इससे एक कदम आगे है. वहां महिलाओं के लिए 11 फीसदी आरक्षण का नियम है. अर्जेंटीना की संसद में 30 फीसदी, फ्रांस में 50 फीसदी और स्पेन में 10 फीसदी आरक्षण महिलाओं के लिए है. सिर्फ संसद में ही नहीं, कई देशों में तो राजनीतिक पार्टियों के भीतर और चुनाव में उम्मीदवारी के लिए भी महिलाओं के लिए आरक्षण का प्रावधान है. ब्राज़ील में राजनीतिक दलों में कम से कम 20 फीसदी महिलाओं का होना ज़रूरी है. मेक्सिको में कम से कम 30 फीसदी महिला उम्मीदवार चुनाव में होने की बाध्यता है . स्पेन में यह आंकड़ा 40-60 फीसदी है. आखिर भारत कैसा लोकतंत्र है जहां अपने पड़ोसी से भी सबक सीखने में हम संकोच करते हैं.

स्थानीय निकायों में दस लाख से ज्यादा महिलाओं के चुने जाने से नीतियों और सामाजिक नजरिए में फर्क तो आया है, पर इतना उल्लेखनीय नहीं कि महिलाओं को नीति-निर्धारकों की भूमिका दे दी जाए. वैसे प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह ने बार-बार यह कहा कि महिलाओं को समान प्रतिनिधित्व मुहैया कराने के लिए वह प्रतिबद्ध हैं, पर प्रधानमंत्री का यह कहना महज कोरा बयान बन कर रह गया. असलियत में उनकी सरकार दृढ़ इच्छाशक्ति की कमी के कारण इस मसले पर कुछ कर ही नहीं सकी. एनडीए के प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी से यूपीए के प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह तक महिला विधेयक सिर्फ राजनीतिक शगूफा बन कर रह गया.

जब प्रतिभा पाटिल देश की राष्ट्रपति बनाई गईं, तो लगा था कि देश में महिला सशक्तिकरण की दिशा में एक अद्भुत क्रांति हो रही है. इसके बरक्स आज की स्थिति पर गौर करें और राजनीतिक दलों का रवैया देखें, तो साफ है कि यह सब कुछ बस प्रतीकात्मक होकर ही रह गया.

यही वजह है कि देश की आधी आबादी कई क्षेत्रों में पुरुषों से दो कदम आगे बढ़कर भी आज भी समाज में अपनी जगह तलाश रही है. यूं तो महिला सशक्तिकरण की बात सभी पार्टियां करती हैं, पर शायद इस बदलाव को स्वीकार करने से डरती हैं. राष्ट्रपति प्रतिभा पाटिल भले ही सेना की सर्वोच्च कमांडर बन गई हों, पर आज भी सेना में महिलाएं 14 साल से ज्यादा नौकरी नहीं कर सकतीं.

दरअसल, महिला आरक्षण विधेयक राजनीतिक या सामाजिक विचारों का द्वंद्व या युद्ध नहीं है. यह एक मनोवैज्ञानिक लड़ाई है जिसका परिणाम तुरंत नहीं निकलता. आखिरकार सदियों की सोच बदलने में वक्त लगता है, पर जब नतीज़ा निकलता है तो वह गंभीर भी होता है और सार्थक भी.

दरअसल महिला आरक्षण विधेयक का मतलब है नारी के स्वतंत्र वर्चस्व की परिकल्पना. महिला आरक्षण विधेयक की बात उठते ही समाज में भारतीय स्त्री की लाचार स्थिति पूरी तरह स्पष्ट और मुकम्मल हो जाती है. राजनैतिक लफ्फाजियों के बीच पूर्वाग्रहों से ग्रसित मानसिकता हालात बदलने को तैयार नहीं. वैसे प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह इस मसले पर बयान देने से नहीं चूकते. वह फरमाते हैं कि हमारा मानना है कि उच्चतम स्तर पर राजनीति में महिलाओं की भागीदारी बेहतर शासन सुनिश्चित करने की दिशा में क्रांतिकारी बदलाव लाएगी. शासन प्रक्रिया में महिलाओं के शामिल होने से लैंगिक समानता और महिला सशक्तिकरण में भी मदद मिलेगी.

पर ये सब कब होगा मनमोहन सिंह जी? पिछले पांच साल के कार्यकाल में महज़ बयानबाजियां ही तो हुई है. नतीज़ा कहां निकला है? आपने तो कई बार संसद में यह कहते हुए महिला आरक्षण बिल के प्रति अपनी सरकार की प्रतिबद्धता भी जाहिर की है कि आपकी यूपीए नीत सरकार संसद और विधानमंडल में महिलाओं को समान प्रतिनिधित्व मुहैया कराने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ है. क्या यही है आपका संकल्प? आपकी दृढ़ता? हम लोकसभा चुनाव के मुहाने पर खड़े हैं पर परिणाम के तौर पर सिर्फ नाउम्मीदी ही है. आपने तो इस मसले पर अपने सहयोगी दलों के बीच व्यापक सहमति बनाने की बात भी कही थी. अगर आपने कोशिश की तो कामयाब क्यों नहीं हुई?

सच है कि आज यूपीए अध्यक्ष सोनिया गांधी, बसपा सुप्रीमो मायावती दुनिया की सबसे ताकतवर महिलाओं में शामिल हैं. अनेक महिलाएं विभिन्न क्षेत्रों और पेशों में अपना परचम लहरा रही हैं. पर यह भी उतनी ही कड़वी हकीकत है कि इस चमकते, प्रगति करते, विश्व में धाक जमाते भारत में महिलाओं का एक बड़ा वर्ग आज भी अपने हक़ से महरूम है, हाशिए पर है और असुरक्षित है. जिस देश में नारी शक्ति की पूजा होती है, उसे देवी की उपाधि से नवाज़ा जाता है, क्या वह देश भारत की उपेक्षित औरतों को सुरक्षित और सम्मानित जीवन दे पाएगा? क्या हमारे समाज के ठेकेदार और देश की तस्वीर बदलने का दम भरने वाले राजनेता अपनी कथनी और करनी का फर्क मिटा पाएंगे?

महिला आरक्षण विधेयक का विरोध कर रहे राजनीतिक दल 33 फीसदी आरक्षण को अव्यवहारिक मानते हैं. वे इस हक में भी नहीं हैं कि यह आरक्षण बारी-बारी से अलग-अलग सीटों पर दिया जाए. ऐसा नहीं है कि अगर सरकार की इच्छाशक्ति प्रबल होती तो यह बिल पास नहीं हो सकता था. कांग्रेस, भाजपा, लेफ्ट और कुछ और दूसरे सहयोगी दल मिलकर इसे पारित कर सकते थे. लेकिन इस मुद्दे पर कहीं सरकार पर ही संकट न आ पड़े, इसकी खातिर अभी तक सरकारें आम सहमति का बहाना बनाती रहीं.

यही वजह है कि बेशुमार तरक्की के बावजूद आज भी भारतीय नारी बेचारी और अबला का ठप्पा लेकर जीवन गुजारने पर विवश है. यह बात बिल्कुल तयशुदा है कि महिला आरक्षण का मुद्दा धुंध में भटक गया है. अगर वास्तव में हमारे राजनेता देश की औरतों का सशक्तिकरण चाहते है तो उन्हें महिला आरक्षण विधेयक का पैरोकार बनना होगा, विरोधी नहीं.

साख का संकट गहरा रहा है : हरिवंश

पत्रकारों को प्रशिक्षित करने की जरूरत है ताकि वे खबरों की नब्ज पकड़ सकें .भाषाई फैलाव तो बहुत हुआ है, लेकिन उसी अनुपात में खबरें भी कम हो गई हैं. जो है, वह सूचना है. खबरों की धार और गहराई गायब हो गई है. असल में संकट गुणवत्ता का है.

प्रभात खबर के प्रधान संपादक हरिवंश पत्रकारिता में स्थापित हस्ताक्षर हैं. वर्तमान पत्रकारिता के विभिन्न आयामों और पहलुओं पर हमारे संवाददाता ने उनसे लंबी बातचीत की. प्रस्तुत है प्रमुख अंश

पत्रकारिता की वर्तमान दशा और दिशा को देखकर क्या आपको अफसोस नहीं होता ?

आपके प्रश्न के पहले हिस्से के जवाब में कहना चाहूंगा कि अफसोस जैसी कोई बात मेरे साथ नहीं है. पत्रकारिता कोई अकेली या अछूती विधा नहीं, जहां गिरावट आई है. फिर पत्रकारिता की विधा एक आयामी भी नहीं होती. इसे संदर्भों में देखने की जरूरत है. आप देखिएगा कि पत्रकारिता को खाद हमेशा राजनीति और समाज से ही मिली है. मैं तो यह कहना चाहूंगा कि पत्रकारिता और राजनीतिक विचार एक दूसरे के प्रेरक रहे हैं. आप स्वाधीनता आंदोलन से लेकर जेपी आंदोलन तक देख लीजिए. क्या इन्हीं राजनीतिक विचारों ने पत्रकारों को प्रेरणा नहीं दी, और क्या पत्रकारिता ने इन विचारों के फैलाव और प्रसार में अहमतरीन भूमिका नहीं निभाई? तो, यह चौतरफा गिरावट का दौर है. इसी वजह से मुझे अफसोस तो नहीं, पर चिंता जरूर है.

हाशिए के लोगों या वंचितों के सरोकारों को पत्रकारिता सामने नहीं ला पा रही है. दूसरे शब्दों में कहें तो यह सत्ता की सहायक हो गई है. पत्रकार बस तिकड़मी बन कर रह गए हैं जो सत्ता के हितों का पोषण करने में लगे हैं. यह समय आत्ममंथन का है, मूल उद्देश्य की तरफ लौटने का है, तभी कुछ हो पाएगा.

हिंदी पत्रकारिता मौजूदा दौर में वाद, न विवाद केवल अनुवाद बनकर रह गई है और पत्रकार अनुवादक सह टंकक. अधिकतर मीडिया हाउस में अंग्रेजी का ही अनुवाद होता है. यह तस्वीर कैसे बदलेगी?

आपकी इस धारणा से मैं बुनियादी रूप से असहमत हूं. यह दिल्ली के बड़े मीडिया प्रतिष्ठानों, जैसे एचटी और टाइम्स ऑफ इंडिया के साथ हो सकता है. आप हिंदी पट्टी से निकलने वाले अखबारों को देखिए. समस्या दरअसल दूसरी है.हमें मानव संसाधन को विकसित करने की जरूरत है. पत्रकारों को प्रशिक्षित करने की जरूरत है ताकि वे खबरों की नब्ज पकड़ सकें. भाषाई फैलाव तो बहुत हुआ है, लेकिन उसी अनुपात में खबरें भी असीमित हो गई हैं. **खबरों की धार और गहराई गायब हो गई है. खबर देने का दावा करने वालों की संख्या जितना बढ़ी है, खबरें उसी अनुपात में गायब हो गई हैं. आप क्या सोचते हैं?**

इस बात से सहमत हुआ जा सकता है. दरअसल, खबरों या कहें कि पत्रकारिता के मूल चरित्र में ही परिवर्तन हो गया है. पहले के दौर में आम तौर पर यह माना जाता था कि पब्लिक रिलेशन या पीआर से मिलने वाली खबरें तो खबरें हैं ही नहीं, बल्कि जो छुपाया जाता है, वही खबर है. आज शॉर्टकट के इस दौर में यह चरित्र ही खो गया है. पत्रकार बंधु सूत्रों पर अधिकाधिक निर्भर रहने लगे हैं. सतही तौर पर आकलन करने लगे हैं. वे खबरों की तह तक नहीं जाते. मौजूदा संकट के लिए यही जिम्मेदार है.

पत्रकारिता में जल, जंगल और ज़मीन से जुड़े मसले गायब होते जा रहे हैं. हम जो भी देखते या पढ़ते हैं, वह समाज के दो फीसदी हिस्से का ही सच बयान करती है. इस सूरत-हाल को कैसे बदला जाएगा?

देखिए, यहां भी मसला कुछ दूसरा ही है. थोड़े-बहुत या छिटपुट मामले तो उठते ही रहते हैं, वरना आप ही बताइए कि बीस पन्नों या ज्यादा का अखबार भला भरेगा कैसे. ऐसे में समग्रता का अभाव हो जाता है, दृष्टि की कमी पैदा हो जाती है. इसे बदलने के लिए केवल दिल्ली के बड़े मीडिया प्रतिष्ठानों में वातानुकूलित कमरों में बैठकर बयानबाजी करने से काम नहीं चलेगा. नब्बे के दशक तक विचारधारा को लेकर राजनीति होती रही. .

राजनीति मुद्दा आधारित हुआ करती थी, किंतु आज पक्ष और विपक्ष दोनों का ही चाल, चरित्र और चिंतन लगभग एक सा ही है. कहां है वह विजन, कहां है वह सोच और कहां है वह दृष्टि?

मेरे कई पत्रकार साथी हैं जो पत्रकारिता की मौजूदा दशा से काफी खिन्न हैं वे जिस उत्साह, जोश और जज्बे से इस क्षेत्र में आए थे, काम शुरू करने के कुछ ही दिनों बाद उनका वह जोश ठंडा पड़ गया. उनके उत्साह को फिर से कैसे जगाया जाए?

यह आपका बड़ा ही सामान्यीकृत सवाल है. वैसे ही, जैसे देश की दशा बहुत खराब है, क्या करें? देखिए, जब तक मुद्दे और विचार जीवित थे, लोग पत्रकारिता में एक बेचैनी, एक जुनून से आते थे. आज पैशन की वजह से नहीं, मजबूरी से आते हैं. किसी का यूपीएससी में नहीं हुआ, या किसी और जगह वह नहीं जा सका, तो पत्रकारिता में आ गया. ऐसे में कमिटमेंट का, दृष्टि का अभाव होता है. अब लोग खबरिया चैनलों को गाली भी देंगे और अधिक पैसा मिलने पर वहीं काम भी करेंगे, तो यह तस्वीर कैसे बदलेगी. आप गुणवत्ता बढ़ाइए.हमें आर्थिक आधार को देखना होगा. हिंदी अखबार सबसे अधिक बिकते हैं, पर उनको विज्ञापन नहीं मिलते. आप देखिए कि प्रसार के मामले में शीर्ष 10 अखबारों में शायद ही अंग्रेजी का कोई हो, सिवाय टाइम्स ऑफ इंडिया के तो, हमें इसको बदलना होगा. संसाधन पैदा करने होंगे. हमें तो केंद्र सरकार पर दबाव बनाना चाहिए, कि आखिर सारे बड़े विज्ञापन अंग्रेजी अखबारों को ही क्यों दिए जाते हैं.

प्रिंट मीडिया के सामने सबसे बड़ी चुनौती क्या है?

अपनी साख और विश्वसनीयता को फिर से बना लेना हमारे सामने सबसे बड़ी चुनौती है.

हिंदी भाषा के स्वरूप को लेकर रोज नए सुझाव आ रहे हैं. कवायद हो रही है. कुछ अखबार तो बाकायदा हिंग्लिश का अभियान चलाए हुए हैं. ऐसे दौर में हिंदी की वर्तनी और स्वरूप क्या होगा?

इसके लिए तो हर अखबार को काम करना होगा. मैं किसी भी तरह हिंग्रेजी को बढ़ावा देने के पक्ष में नहीं हूं. यह तो न्याय नहीं है. हमें देशज शब्दों के इस्तेमाल पर जोर देना होगा. उनको खोजना होगा. उर्दू और ग्रामीण अंचलों के कई शब्द मर रहे हैं. उनको बचाने की जरूरत है. सहज-भाषा का इस्तेमाल करना चाहिए, लेकिन उर्दू न फारसी मियां जी बनारसी वाला मामला तो नहीं चलेगा. कुछ अखबारों ने इस दिशा में राह दिखाई थी,पर अब वे भी नेतृत्व नहीं कर पा रहे. कारण चाहे जो भी हों.

इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के बारे में काफी कुछ कहा जा रहा है. आपकी क्या सोच है, खासकर मुंबई हमलों की कवरेज के संदर्भ में ?

इलेक्ट्रॉनिक मीडिया बहुत ही ताकतवर माध्यम है. यह तो हथियार चलाने वाले पर निर्भर करता है, न कि हथियार पर कि उसका वार कहां हो रहा है. खबरिया चैनलों को अपनी मर्यादा का पता होना चाहिए. उनको संयम के साथ काम करना चाहिए, जिसका स्पष्ट अभाव इन दिनों दिख रहा है. मुझे लगता है कि खबरों को ब्रेक करने की हड़बड़ी की जगह उसकी तह में जाकर रिपोर्टिंग होनी चाहिए, वरना मामला वैसा ही होगा, जैसा हम आए दिनों देखते हैं. तात्कालिकता के फेर में हम वस्तुनिष्ठता की बलि न दें, तो ही बेहतर होगा.

सूचना देने का काम करनेवाले पत्रकार खुद आधी-जानकारियों के सहारे काम करते हैं. जैसे,भारत-परमाणु करार की जय-जयकार में मुख्यधारा का लगभग पूरा मीडिया खड़ा दिखा, जबकि इस मसले के कई और भी पहलू थे. उनकी पूरी तरह से अनदेखी की गई. आपकी क्या सोच है?

मैं आपकी बात से पूरी तरह सहमत हूं. केवल यही एक मसला नहीं, बल्कि कई और मामले हैं जिन पर आधी-अधूरी या अधकचरा जानकारी परोसी और बांटी गई.इसका मुख्य कारण है, पत्रकारों में समझ,सोच और सबसे बढ़कर प्रशिक्षण और पढ़ाई का अभाव. आप देखिए न, आज के पत्रकार पढ़ते कब हैं? वह तो बस अपनी जोड़-और राजनीतिक तिकड़म में लगे रहते हैं. मुद्दों से बस उनका सतही तौर पर लगाव होता है.

गुमनाम

वी पी सिंह

एक दिन मेरा नाम
मुझसे अलग जा खड़ा हुआ

जग ने पूछा-
इन दोनों में से
तुम कौन हो

अपने नाम को ही
सच बता
मैं अपने को नकार गया

तब से
इस जग में
मैं
एक अपरिचित
गुमनाम हूं

बर्फ़ का टुकड़ा

अभी तक
मैं ठोस था
मेरी सीमाएं स्पष्ट थीं
स्थान निर्दिष्ट था

अब
पिघल रहा हूं
अनायास
घुल रहा हूं
बह रहा हूं
नीचे
!
नीचे
!
कहीं तो ठहर जाऊंगा
किसी गड्ढे में
अपनी परिधि पा जाऊंगा
अंजुलि भर
मुझे उठाने की चेष्टा न करना
अंगुलियों के बीच से सरक
जाऊंगा

ऊंचाइयों से
अब
घबराता हूं

गणेश-गोबर

मक्खी
गोबर पर
फिर वही
गणेश पर

पंडित रह गए देखते
गणेश हुए
गोबर
सब खेल हुआ बराबर

शांति और अमन की दुआ

केसाथ आगरा में दक्षिण एशिया केलेखक और कवि मिल रहे हैं

दक्षिण एशिया क्षेत्रीय सहयोग समूह (सार्क) के आठ देशों के चुनिंदा लेखक और कवि आगरा में मुलाकात कर रहे हैं. यह सम्मेलन 12 मार्च से 16 मार्च तक चलेगा. सम्मेलन का महत्व इसलिए भी है क्योंकि पूरे दक्षिण एशिया में जिस तरह का माहौल देखने को मिल रहा है उसमें साहित्य जगत से उम्मीदों का बढ़ना स्वाभाविक है.

अफगानिस्तान और पाकिस्तान में जड़ें जमा चुका आतंकवाद पूरी दुनिया के लिए खतरा बन चुका है. यह खतरा दक्षिण एशिया के लिए अधिक प्रासंगिक है. 26/11 को मुंबई पर आतंकी हमला, अफगानिस्तान और पाकिस्तान में लगातार बिगड़ते हालात, श्रीलंका और तमिल विद्रोहियों के बीच जारी संघर्ष और फिर लाहौर में श्रीलंकाई क्रिकेट टीम पर आतंक का वहशी हमला इस बात को साफ करता है कि पूरा दक्षिण एशिया एक बेहद नाजुक दौर से गुजर रहा है.

आतंक के इस माहौल में पूरी दुनिया मानो भय और शक के घेरे में जी रही है. ऐसे माहौल में साहित्य ही एक ऐसा मंच है, जिसे औजार बनाकर आतंकियों के खिलाफ जनमानस को तैयार किया जा सकता है. पूरे दक्षिण एशिया में सरकारों को आतंकी एक तरह से बंधक बनाए हुए हैं. ऐसे हालात में अदब और साहित्य से यह अपेक्षा बेवजह नहीं कि परस्पर संवाद और दोस्ती की बुनियाद को फिर से रखने और उसे मजबूत बनाने का काम किया जाए. पाकिस्तान में एक बार फिर सैनिक शासन की तैयारी हालात को और भी भयावह बना रही है. आज दुनियाभर की नजर दक्षिण एशिया पर लगी है. इन्हीं हालात में और मौजूदा चुनौतियों से दो-चार होने की तैयारी और मशविरा करने के लिए सार्क के आठ देशों के चुनिंदा लेखक और कवि आगरा में मुलाकात कर रहे हैं.

इस समारोह में शिरकत करने वाले लेखक और कवि अपनी रचनाओं का पाठ तो करेंगे ही, साथ ही समसामयिक राजनीतिक, सामाजिक और भू-राजनीतिक हालात पर आयोजित होने वाले सेमिनारों में भी हिस्सा लेंगे. जाहिर तौर पर,ये लेखक, अदीब और बुद्धिजीवी मौजूदा माहौल, आतंक और उससे पैदा हुए हालात से निबटने और आपसी अमन और भाईचारा कायम करने के तरीकों पर राय करने के लिए ही इकट्ठा हुए हैं. पुरानी कहावत है कि आतंक का मुकाबला अमन से और हिंसा का मुकाबला भाईचारे से ही किया जा सकता है. साहित्य का रास्ता एक ऐसा रास्ता है, जो इंसानी ज़िंदगी में रोशनी और उम्मीद कायम करता है.

फाउंडेशन फॉर सार्क राइटर्स एंड लिटरेचर (फोसवाल) 12 मार्च से 16 मार्च 2009 तक आगरा में इन लेखकों को एकजुट कर रहा है. इस सम्मेलन का मुख्य मुद्दा आतंकवाद है. इस समारोह में आतंकवाद, रंगभेद और लोकप्रिय संस्कृति पर बहस होगी और मौजूदा कठिन परिस्थितियों में आपसी तालमेल और सामंजस्य बनाए रखने के पहलुओं पर विचार किया जाएगा. इस सम्मेलन में पाकिस्तान से 13 और अफगानिस्तान से आठ लेखक शामिल हो रहे है. यह पहला मौका होगा कि फोसवाल के इस समारोह में सार्क की तरफ से शिरकत की जा रही है. दक्षिण एशिया के ऐसे नाजुक वक्त में सार्क देशों के सेक्रेटरी जनरल डॉ शील कांत शर्मा अधिकारिक तौर पर इसमें शामिल हो रहे हैं. भारतीय विदेश मंत्रालय की सांस्कृतिक समिति भी इस समारोह को प्रोत्साहित कर रही है. ज़ाहिर है ऐसे मुश्किल दौर में इन देशों के लेखकों और बुद्धिजीवियों की यह बैठक दक्षिण एशिया में बातचीत की नई शुरुआत करेगी. फोसवाल से जुड़ी लेखिका अजीत कौर मानती हैं कि भारत और पाकिस्तान के बिगडते राजनीतिक हालात को काबू करने में यह मंच एक महत्वपूर्ण योगदान दे सकता है.

सार्क देशों के लेखकों और साहित्यकारों की संयुक्त बैठक वर्ष 2000 के अप्रैल महीने में पहली बार हुई थी. इसमें सारे सार्क देशों से 100 लेखकों ने हिस्सा लिया था. उसी साल पहली बार म्यांमार और अफगानिस्तान ने भी इसमें हिस्सा लिया था. फोसवाल के बैनर तले संगीत, धर्म, लोकगीत और साहित्य पर चर्चा करने बुद्धिजीवी इकट्ठा होते हैं.

मुसलमान

आबिद सुरती

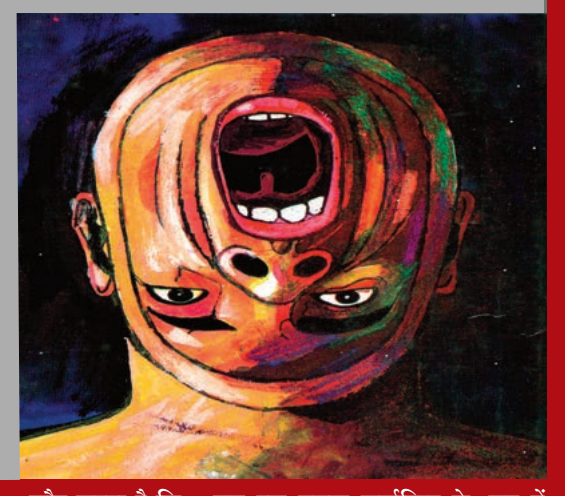

कौन कहता है कि इंटरनेट के जमाने में लोगों ने किताबें पढ़नी बंद कर दी है? लिखे शब्दों और साहित्य के लिए लोगों का लगाव कतई कम नहीं हुआ है लेकिन उनके पास विकल्पों और संसाधनों की कमी हो गई है. हम उसी परंपरा के वाहक बनना चाहते हैं. हम आपको फिर से समकालीन साहित्य की उस भूली-बिसरी दुनिया में ले जाना चाहते हैं, जो समाज के प्रति अलग नजरिया प्रस्तुत करता हो. जिस किताब के जरिए हम यह शुरूआत कर रहे हैं उस किताब का नाम है-मुसलमान मुसलमान के लेखक को दुनिया अब तक एक मशहूर कार्टूनिस्ट के रूप में जानती रही है. उनके कालजयी कार्टून पात्र ढब्बू जी से आप परिचित हैं. उनका नाम है आबिद सुरती. किताब दो किरदारों की बात करती है. दोनों ही मुसलमान हैं. यह किताब उनके समय के मुंबई और मुसलमान समाज के बारे में एक दस्तावेज है. किताब बताती है कि कैसे एक किरदार कलाकार बनता है और दूसरा डॉन. मुंबई के मुसलमानों की कहानी. हाजी मस्तान से लेकर दाउद इब्राहीम तक. पहले अंक से ही हम मुसलमान का धारावाहिक के तौर पर प्रकाशन करेंगे, इसी पन्ने पर. खुलेगा-मुसलमान...परत दर परत...हर सप्ताह.

आधुनिक शोध ने हल्दी की पुरानी दवा की पुष्टि

हम में से कई लोग रोजाना इस्तेमाल में आने वाली कई परंपरागत चीजों के खतरे में पड़ने से अनजान हैं. यह खतरा पश्चिम की कंपनियों से हैं. यह खतरा क्यों है और कैसे पैदा हो रहा है? इस वजह से कि किसी पौधे के पत्ते, जड़ी, कंद या किसी भी अन्य चीज से जोरदार लाभ कमाने के मौके को पश्चिमी कंपनियां जैसे ही सूंघती हैं, वे उसका पेटेंट हासिल करने की ताक में लग जाती हैं. पेटेंट का मतलब होता है उस चीज पर पूरी तरह अधिकार हासिल करना. ऐसा ही कुछ बासमती चावल और नीम के मामले में हो चुका है. इसे रोकने के उपाय जब तक नहीं खोज लिए जाते, तब तक हम लोगों को पारंपरिक वस्तुओं के लिए महंगे दाम चुकाने पड़ेंगे. उदाहरण के लिए हम हल्दी के बढ़े भाव पर नज़र डाल सकते हैं. आखिर ऐसा कैसे हुआ.

हमारे पूर्वजों ने हमेशा से हल्दी को इसकी औषधीय क्षमताओं और दूसरे फायदों के लिए जीवनदायी मसाला माना है. दरअसल, अंग्रेजी के टर्मरिक (हल्दी) शब्द की उत्पत्ति लैटिन शब्द टेरा मेरिटा से हुई है, जिसका अर्थ होता है धरती के गुण. ज़ाहिर तौर पर, सोने के रंग वाली हल्दी (जो करकमा लौंगा नाम के पौधे से मिलती है), न केवल खाने में पीला दिखने वाला मसाला है. यह तो एक औषधीय पौधा है जिसके बेशुमार फायदे हैं. उदाहरण के लिए, इसे उपजाऊपन से भी जोड़ा जाता है। इसे मां के पेट और नाभिनाल पर प्रसव के बाद मला जाता है.

आयुर्वेद के अनुसार इस मसाले का पाचन-क्रिया बढ़ाने, संक्रमण से बचने, लिवर और पेट की समस्या से बचने में इस्तेमाल किया जाता है. साथ ही यह अल्सर, गठिया और दूसरे रोगों जैसे दर्द, घाव और खिंचाव को दूर करने में भी उपयोगी है.

हाल के आविष्कार

वैज्ञानिकों ने हाल ही में पता लगाया है कि हल्दी में फेनॉल के तत्व पाए जाते हैं जो स्वास्थ्य के लिए काफी उपयोगी है. हल्दी में उपस्थित कर्कुमिन हमें कैंसर और घातक गठिया से बचाता है. यह तत्व उन अणुओं को भी रोकने में कारगर होता है जो कोशिका पर चोट कर सकते हैं. इसमें रक्षात्मक श्वेत कणों की तादाद भी अधिक होती है जो ल्युकोट्रिएनेस नाम के तत्व को रोक देता है और हमारी रक्षा करता है.

एक अध्ययन ने यह भी दिखाया है कि हल्दी के सेवन से गठिया के रोगियों को दर्द से भी मुक्ति मिलती है. हल्दी का फायदा एलर्जी, अस्थमा, एथेरोसिरॉसिस, हृदय के रोग, अल्जाइमर, स्नायु-विकारों, मधुमेह और कैंसर में भी होता है. यह शरीर की प्रतिरोधी क्षमता को भी बढ़ाता है और कीटाणु-विषाणु से भी हमारी रक्षा करता है.

एक अध्ययन ने यह भी दिखाया है कि हल्दी के सेवन से गठिया के रोगियों को दर्द से भी मुक्ति मिलती है. हल्दी का फायदा एलर्जी, अस्थमा, एथेरोसिरॉसिस, हृदय के रोग, अल्जाइमर, स्नायु-विकारों, मधुमेह और कैंसर में भी होता है. यह शरीर की प्रतिरोधी क्षमता को भी बढ़ाता है और कीटाणु-विषाणु से भी हमारी रक्षा करता है.

कैंसर में फायदा

जानवरों पर कर्कुमिन के प्रभाव का अध्ययन बताता है कि हल्दी कैंसर फैलाने वाले तत्वों की रोकथाम में सहायक होती है. राष्ट्रीय पोषण संस्थान, हैदराबाद के शोधकर्ताओं के मुताबिक एक चम्मच हल्दी का रोजाना इस्तेमाल कैंसर को दूर रख सकता है. यहां तक कि हल्दी कैंसर के मरीज को स्वस्थ भी कर सकती है.

हल्दी में कैल्शियम, लोहा, फॉलिक एसिड, बीटा-कैरोटीन और विटामिन-सी पाया जाता है. कर्कुमिन को अगर हम अधिक मात्रा में भी लें, तो भी इसके बुरे असर नहीं होते. कोई अचरज की बात नहीं कि आज भी दादियां सर्दी और खांसी होने पर गरम दूध में हल्दी मिला कर पीने को कहती हैं, घाव पर भी हल्दी का लेप लगाती हैं और टूटी हड्डियों तक के लिए यही मरहम बताती हैं.

हल्दी केसर का एक कम खर्चीला विकल्प है. इसे सूखे रूप में, पाउडर के तौर पर या बिल्कुल ताजे रूप में इस्तेमाल कर सकते हैं. छोटी मात्रा में खरीद कर इसे तेज रोशनी से दूर किसी हवाबंद डिब्बे में सुरक्षित रखें. रोजाना खाना बनाने में इसके पाउडर का इस्तेमाल करें. ताजा हल्दी का लेप भी बनाया जा सकता है और इसे करी के तौर पर भी इस्तेमाल कर सकते हैं. अपने अचार या जूस में भी आप इसका इस्तेमाल कर सकते हैं. है न कम दामों में बड़े फायदे की चीज़.

चौथी दुनिया ब्यूरो

अवसाद से मुक्ति का प्राकृतिक इलाज

अवसाद और आयुर्वेद पर हाल ही में प्रकाशित नीरज अरोड़ा की पुस्तक अवसाद के इलाज के लिए दवाइयों पर बहुत ज्यादा निर्भर रहने के प्रति सचेत करती है. पश्चिम में तनाव और अवसाद से ग्रस्त लोगों की फौज यदि बगैर कुछ खर्च किए इससे निजात पाना चाहती है, तो उन्हें सलाह है कि वे हवा, पानी, नींद, भोजन और व्यायाम के पांच तत्वों को अपनाएं. यह आसान और बिल्कुल उपयुक्त है.

यह कोई रॉकेट विज्ञान नहीं है. पीढ़ियों से समूची दुनिया में यही नुस्खे मौजूद हैं और लोग इनके बारे में जानते हैं. जाहिर है, पूरब और पश्चिम के दादा-दादी तो कम से कम इस सलाह से सहमत ही होंगे. जीवन के अनुभवों की विविधता और अर्थवत्ता का आपके लिए व्यापक मतलब होगा, अगर आप अस्तित्व के साथ बुनियादी स्तर पर मानवता और जीवंतता के साथ जुड़े होंगे.

'डिप्रेशन अंडरकवर' के लेखक नीरज अरोड़ा ने हाल ही दिए एक साक्षात्कार में इस बात पर जोर दिया है कि जीवन के बुनियादी तथ्यों को ठीक कर हम अवसाद को दूर कर सकते हैं. पांच तत्वों- हवा, पानी, नींद, भोजन और व्यायाम ही ये बुनियादी चीज़ें हैं-में कुछ और चीज़ें जोड़ दीजिए. रोजाना नियम से काम करें, बुरी आदतों से लगातार दूर रहें और अवसाद के हवाले खुद को न करें, तो ये कुल मिलाकर आठ तत्व बन जाते हैं.

आप थोड़ी और मेहनत करना चाहते हैं. कोई समस्या नहीं. आप अगर सोचते हैं कि ये आठ तत्व (जी 8) भी काफी नहीं, तो योगासन (लचीले शरीर और सजग मस्तिष्क के लिए शारीरिक व्यायाम), प्राणायाम (गहरी सांस लेने का व्यायाम) और ध्यान(अवसाद और तनाव से निपटने के लिए अतिक्रम का व्यायाम) इसे पूरा कर देते हैं.

अवसाद और आयुर्वेद पर प्रकाशित यह किताब अवसाद से निपटने के लिए दवाओं पर निर्भरता से सावधान करती है. लेखक बताते हैं कि दवाओं की सहायता जीवन को बचा सकती है और बेहद अहम होती है. हालांकि, इसके जड़ जमाते समय ही इसको उखाड़ फेंकना फायदेमंद है. आप शायद उस दौर में नहीं पहुंचे हों, जहां दवाओं की दखल जरूरी होती है. आयुर्वेद शारीरिक या मानसिक अव्यवस्था के जमने से पहले ही उसके प्रारंभिक दौर में ही उखाड़ फेंकने की राय देता है. बीमारी के छह स्तर माने जाते हैं और दवाएं आम तौर पर पांचवें या छठे स्तर पर ही उपलब्ध होती हैं. यही वह समय है जब बीमारी के संकेत दिखने लगते हैं और आपकी रोजमर्रा की जिंदगी को बाधित कर देती हैं. आखिरी चरण के लिए इंतजार क्यों करें, जब उसके बहुत पहले ही इस प्रक्रिया को पलटा जा सकता है.

अवसाद को अक्सर एक जटिल गड़बड़ी माना जाता है. डॉक्टर सलाह देते हैं कि क्लिनिक में इलाज करवाने पर आम तौर पर शुरुआती नतीजे चार से छह सप्ताह में आते हैं. शोध करने वाले अब भी अवसाद का क्लिनिक में इलाज खोजने में जुटे हैं. बाजार में उपलब्ध अधिकतर दवाएं मिजाज को ठीक करने के लिए सेरोटोनिन का स्तर बढ़ा देती हैं. मनोविश्लेषण लोकप्रिय और सहायक भी है, पर यह शुद्ध तौर पर विज्ञान नहीं है. इंसानी दिमाग के बारें में हमारी समझ और बढ़ रही है. लेखक ने अपनी किताब में अवसाद से निपटने के लिए कई खास हिस्से लिखे हैं.

इस दिशा में आयुर्वेद के पास कई तरह के पुराने उपाय हैं. आयुर्वेद बताता है कि किस तरह से विभिन्न मानसिक चरित्र उन तत्वों से नियंत्रित होते हैं, जिन्हें आयुर्वेद की भाषा में दोष कहा जाता है.

दोष आखिर किस तरह से आपकी दिमागी हालत को नियंत्रित करते हैं, आइए इसे देखते हैं.

अगर वात संतुलित हो तो दिमाग साफ, सजग, गतिशील, कल्पनाशील, ऊर्जावान , संवाद के अनुकूल, ताजा, तेज़ कार्यक्षमता वाला रहता है. वहीं वात के असंतुलन से बेचैनी, खालीपन, बेमतलब चिंता, कल्पना में जीने की आदत, काल्पनिक और बेमतलब खतरों से भय, थकान, नींद की कमी, कंपकंपी, तनाव और बदलते मिजाज की परेशानी रहती है.

जिनका पित्त संतुलित रहता है वे उत्साही, आनंदित, आत्मविश्वस्त, तेज और ध्यान केंद्रित करने में सक्षम होते हैं. वहीं तेज गुस्सा, अधीरता, संपूर्ण बनने की बेमानी कवायद असंतुलित पित्त की निशानी हैं.

कफ के उचित मात्रा में रहने से और संतुलित होने से व्यक्ति शांत, खुद से संतुष्ट, ऊंची क्षमता वाला, ऊर्जावान, सहज, तेज कार्यक्षमता वाला, प्यारा, सहनशील, माफ करने वाला, संकट से जूझने की सहज क्षमता रखने वाला होता है. कफ के असंतुलित या अव्यस्थित होने से इंसान चिड़चिड़ा, अव्यवस्थित चित्त वाला हो जाता है. उसके दिमाग में उथल-पुथल मची रहती है. वह खुद को ताजा महसूस नहीं करता.बार-बार उबासी लेता है. उसके सिर में भारीपन, सिरदर्द की शिकायत बनी रहती है. वह बहुत ज्यादा मोह करता है, धीमा और आलसी हो जाता है. बहुत अधिक सोता है और निष्क्रिय हो जाता है.

वात, पित्त और कफ कुछ और नहीं, बल्कि आयुर्वेद के सिद्धांत हैं. इनसे गति, शारीरिक क्रियाओं और शरीर के ढांचे का पता लगाया जाता है. इन तीनों का सम्यक संतुलन पाएं और आप देखेंगे कि प्रकृति आपके हक में काम कर रही है. आप अपने भीतर की लय पा लेते हैं.

एक बार अगर आपने अपनी आंतरिक लय पा ली, तो आप उन्हीं को आधार बनाकर काम कर सकते हैं. इसका पूरा हाल नीरज अरोड़ा ने अपनी किताब के चौथे अध्याय में लिखा है. दरअसल, यही आधार बाहरी दुनिया के साथ ताल बैठाने में मदद करता है. इसमें सैद्धांतिक तौर पर जीवन का लक्ष्य या उद्देश्य समझने की बात भी शामिल है. किताब बेहद खूबसूरती से बताती है कि दूसरों के साथ अपने संबंध को कैसे कायम रखें और उनसे अधिकाधिक लाभ कैसे लें. साथ ही आज के इस घोर प्रतियोगी समय में खुद को तनाव से भी बचाए रख सकते हैं. किताब के बाकी अध्यायों में तनाव और अवसाद से निपटने के तरीके दिए गए हैं. असहज जीवन शैली, पर्यावरण में आई तब्दीली, एक ही ढर्रे पर चल रही नौकरी और जीवन की एकरसता से ऊबे लोगों के लिए भी उपाय दिए गए हैं.

तीसरे अध्याय में लेखक ने पाठकों को आयुर्वेद की बुनियादी बातें बताई हैं. इन्हें रटने की जरूरत नहीं है, पर यह समझना पाठकों के लिए मददगार होगा कि आयुर्वेद किस तरह से अवसाद को देखता है. आप अवसाद की बीमारी से निपट सकते हैं, अगर आप कुछ छोटी अव्यवस्थाओं से निपट लें. आप किसी खास लक्षण पर ध्यान केंद्रित कर उससे छुटकारा पाने के उपाय कर सकते हैं. उदाहरण के लिए, साधक पित्त, पित्त (पाचन सिद्धांत) का वह प्रकार है जो भावनाओं को अपनाता, शुद्ध करता है और उनकी व्याख्या करता है. इसी तरह प्राण वात और तर्पक कफ भी हैं, जो अवसाद के किसी खास मामले में मुख्य भूमिका निभाते हैं. दरअसल, आयुर्वेद 15 सहयोगी लक्षणों की बात करता है, जिन्हें सहदोष माना जाता है. वात, पित्त और कफ का हरेक दोष पांच-पांच सहदोष में बांटा गया है. आयुर्वेद ने इन तीनों गुणों वात, पित्त और कफ का हजारों साल से इस्तेमाल किया है. इसमें व्यावहारिक तौर पर भी वह ज्ञान है, जिससे कभी-कभार या हमेशा होने वाले शारीरिक असंतुलन से बचा जा सकता है.

आयुर्वेद के सिद्धांत साधारण शारीरिक-जैविक कसौटियों पर काम करते हैं. इंसानी शरीर और दिमाग के काम करने का यह बहुत ही जबर्दस्त तरीका है. आप जीवन के किसी भी क्षण अपने भीतर यह परिवर्तन होता हुआ महसूस कर सकते हैं. आप यही बुनियादी सिद्धांत किसी खास स्थिति में भी अपना सकते हैं. किताब में एक अध्याय महिलाओं और उनको होने वाले अवसाद पर भी आधारित है. लेखक ने इसको अतिरिक्त उपायों की श्रेणी में रखा है, जो केवल महिलाओं से संबंधित समस्याएं बताता है. साथ ही, मासिक से पहले होने वाले अवसाद का भी उपाय इसमें बताया गया है.

कुल मिलाकर यह किताब अवसाद के बारे में ताजातरीन जानकारी देती है. इस किताब को ज़रूर पढ़ा जाना चाहिए.

चौथी दुनिया ब्यूरो

अवसाद को अक्सर एक जटिल गड़बड़ी माना जाता है. डॉक्टर सलाह देते हैं कि क्लिनिक में इलाज करवाने पर आम तौर पर शुरुआती नतीजे चार से छह सप्ताह में आते हैं. शोध करने वाले अब भी अवसाद का क्लिनिक में इलाज खोजने में जुटे हैं. बाजार में उपलब्ध अधिकतर दवाएं मिजाज को ठीक करने के लिए सेरोटोनिन का स्तर बढ़ा देती हैं. मनोविश्लेषण लोकप्रिय और सहायक भी है, पर यह शुद्ध तौर पर विज्ञान नहीं है. इंसानी दिमाग के बारें में हमारी समझ और बढ़ रही है.

क्या है हमारे जंगलों का सच

क्या हमारे जंगल घट रहे हैं या बढ़ रहे हैं. आखिर सच्चाई क्या है. यह सवाल बहुत ज़रूरी है क्योंकि यह हमें कई तरीकों से बड़े पैमाने पर प्रभावित करता है. दुनिया भर में जंगलों की कटाई से कुल ग्रीनहाउस गैसों का 20 फीसदी हिस्सा पैदा होता है. इसीलिए जलवायु में होने वाले परिवर्तन से लड़ने के लिए जंगलों को बचाना बहुत अहम चीज है. यह इसलिए ज़रूरी है क्योंकि विभिन्न स्रोतों से अलग-अलग तस्वीरें मिल रही हैं. सरकार का दावा है कि भारत में जंगलों का क्षेत्रफल पिछले कुछ साल के दौरान लगातार बढ़ रहा है. जंगलों के क्षेत्रफल का पता उपग्रहों के माध्यम से तस्वीरें लेकर ही लगाया जाता है. इस तकनीक में सुधार होने के चलते सरकार दावा कर रही है कि उसने आंकड़ों में कोई हेर-फेर नहीं की है. हालांकि आंकड़ों की विश्वसनीयता के बारे में कई सवाल उठाए गए हैं. मसलन, पहला सवाल तो यही है कि आखिर जिस जंगल क्षेत्र के बढ़ने का दावा सरकार कर रही है, क्या उसका श्रेय खुद सरकारी प्रयासों को जाता है. दूसरे, क्या ऐसा नहीं हो सकता है कि पहले के सर्वेक्षणों में जो हरित इलाके अपहचाने रह गए हों, इस बार तकनीक में सुधार की वजह से उपग्रह उन्हें पहचान पा रहा है.

सरकारी आंकड़ों की विश्वसनीयता पर सवाल इसलिए खड़े हो रहे हैं क्योंकि भारत के वन सर्वेक्षण की रिपोर्ट के मुताबिक, जंगली जानवरों के रहने वाले इलाकों और अभयारण्यों के इर्द-गिर्द जंगली जमीन में बहुत इजाफा नहीं हुआ है. संकेत इस बात के मिल रहे हैं कि वास्तव में इस क्षेत्रफल में कमी आ रही है. मसलन, बहुत घने और मध्यम घने जंगल अब खुले जंगलों में तब्दील होते जा रहे हैं जिनमें पेड़ों का घनत्व 10 से 40 फीसदी के बीच होता है. उपग्रह से मिली तस्वीरों पर भी जाएं, तो 2002 के मुकाबले 2003 से 2006 के बीच जंगल की जमीन में किसी भी इजाफे के आंकड़े तस्वीरों से प्राप्त नहीं दिखाई देते. वास्तव में हुआ यह है कि जंगलों के इर्द-गिर्द खेती की जमीन में इजाफा हुआ है. कई जगहों पर तो पूरी तरह से जंगल साफ ही हो गए हैं. ज़ाहिर है, ऐसी जगहों पर ज़मीन पर दबाव काफी बढ़ रहा है और जंगली जमीन का खेती की ज़मीन में परिवर्तन लगातार बढ़ता जा रहा है. इसके अलावा, जैसा कि तस्वीरों में दिखाई देता है, जंगल में इंसानी गतिविधियों से आखिरकार जंगलों के गायब होने की स्थिति पैदा हो गई है और जंगल बंट गए हैं. जंगली जानवरों और जैव-विविधता को बचाए रखने का सबसे बढ़िया तरीका यही है कि घने वन क्षेत्रों पर पूरी तरह ध्यान केंद्रित किया जाए जिन पर अब तक खेती और अन्य इंसानी गतिविधियों का उतना प्रभाव नहीं पड़ा है. इसका अर्थ यह निकलता है कि पौधे लगाने के मौजूदा तरीके इस समस्या से निपटने में नाकाम रहेंगे. आम तौर पर पौधारोपण का काम बर्बाद हो चुकी जंगली जमीन पर ही किया जाता है. यानी ऐसी जमीन जो वन प्रभाग के दायरे में तो आती है, लेकिन जिस पर पेड़ नहीं बचे होते हैं. इसके अलावा, अक्सर पौधारोपण का अर्थ एक ही किस्म के पौधों को लगाना है जो मोटे तौर पर हमें जैव-विविधता को बचाने करने में कोई मदद नहीं देता. इसके बावजूद जिन इलाकों में ऐसे पौधे लगाए गए होते हैं, उन्हें उपग्रहों की तस्वीरों में क़ैद कर लिया जाता है और मान लिया जाता है कि ये हिस्से जंगलों का ही हिस्सा हैं. इस तरह से जंगल क्षेत्र में मामूली बढ़त दिखा दी जाती है, जबकि वह वास्तव में घने जंगलों के इलाकों में उतनी ही गिरावट दर्शाती है.

आंकड़े दिखाते हैं कि धीरे-धीरे 40 फीसदी घनत्व वाले खुले जंगलों की संख्या बढ़ती ही जा रही है. पर्यावरणीय समूहों का कहना है कि यह पर्याप्त नहीं है. भारत में वर्ल्ड वाइड फंड के वानिकी कार्यक्रम के समन्वयक सुदीप्तो घोष कहते हैं- जंगल क्षेत्र में इस मामूली बढ़ोतरी को और बढ़ाए जाने की जरूरत है. हमारी प्राथमिकता बर्बाद हो चुके जंगलों को बहाल करने की होनी चाहिए और इसके लिए स्थानीय समुदायों को साथ लिया जाना चाहिए.

यह भी ध्यान देने लायक बात है कि भारत के कई बाघ अभयारण्यों में जंगलों का क्षेत्र कम हो गया है क्योंकि यहां इंसानी गतिविधियों पर कोई लगाम नहीं है. ऐसा पिछले तीन दशक से चले आ रहे बाघ संरक्षण कार्यक्रमों के बावजूद है. वन और पर्यावरण मंत्रालय के एक अधिकारी ने कुछ दिनों पहले कहा था- हमने संरक्षित वन भूमि का उपग्रह से अध्ययन किया और पाया कि बाघों के लिए सबसे बड़ा खतरा ऐसे इलाकों का कम होते जाना है. हालांकि अधिकारी इसके लिए राज्य सरकारों के ऊपर दोष मढ़ते रहे हैं. उन्होंने बताया- हम लगातार राज्यों को प्रोजेक्ट टाइगर के तहत पैसे देते रहे हैं, लेकिन अब ऐसा लग रहा है कि पैसे का सही इस्तेमाल नहीं किया गया.

पिछले कुछ वर्षों से प्रमुख शहरों के इर्द-गिर्द कम होते हरित क्षेत्र भी चिंता का विषय रहे हैं. 2003 में ही वन और पर्यावरण मंत्रालय ने स्वीकार किया था कि अहमदाबाद में हरित क्षेत्र 2003 के 177 वर्ग किलोमीटर के मुकाबले कम होकर 144 वर्ग किलोमीटर हो गया है. दूसरी ओर कोलकाता में हरित क्षेत्र 2667 वर्ग किलोमीटर से गिर कर 2649 वर्ग किलोमीटर हो गया जबकि बंगलुरु में अब यह 992 वर्ग किलोमीटर है जो 2003 के मुकाबले 34 वर्ग किलोमीटर कम है. सूरत में हरित क्षेत्र में 15 वर्ग किलोमीटर का क्षेत्र गायब हो चुका है.

कुल मिला कर कह सकते हैं कि वनों के कम होने की बात महसूस करने के बाद सरकार द्वारा शुरू किए गए पौधारोपण अभियान को लेकर अब भी आशंकाएं बनी हुई हैं. संरक्षणवादियों का कहना है कि आबादी बढ़ने की वजह से लोग अपनी ईंधन की जरूरतें पूरी करने के लिए पेड़ों को ज्यादा से ज्यादा काटे जा रहे हैं. वन मंत्रालय का कहना है कि वह एशिया की तीसरी सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था की वन आवश्यकताओं की उपेक्षा नहीं कर सकता है और हिमालय के क्षेत्र में मौजूद वनों के संरक्षण से ही इस देश में विकास को सुनिश्चित किया जा सकता है. सरकार ने साथ ही वन क्षेत्रों में सीमित स्तर पर खनन के काम को भी मंजूरी दी है. लेकिन उसने यह भी अब भी यह बहस जारी है कि आखिर वनों के बढ़ने और घटने को लेकर वास्तविकता क्या है. ऐसे में लगता नहीं कि भारत 2012 तक अपने यहां वन क्षेत्र को एक-तिहाई तक बढ़ाने के लक्ष्य को हासिल कर पाएगा.

चौथी दुनिया ब्यूरो

आंकड़े दिखाते हैं कि धीरे-धीरे 40 फीसदी घनत्व वाले खुले जंगलों की संख्या बढ़ती ही जा रही है. पर्यावरणीय समूहों का कहना है कि यह पर्याप्त नहीं है. भारत में वर्ल्ड वाइड फंड के वानिकी कार्यक्रम के समन्वयक सुदीप्तो घोष कहते हैं- जंगल क्षेत्र में इस मामूली बढ़ोतरी को और बढ़ाए जाने की जरूरत है. हमारी प्राथमिकता बर्बाद हो चुके जंगलों को बहाल करने की होनी चाहिए और इसके लिए स्थानीय समुदायों को साथ लिया जाना चाहिए.

दुनिया

राशिफल

(15 मार्च से 21 मार्च तक)

-वीनू संदल

मेष
21 मार्च– 20 अप्रैल

अब आप ज्यादा व्यावहारिक होंगे. अपनी अपेक्षाओं से कहीं ज्यादा आप प्रदर्शन कर सकेंगे क्योंकि नई स्थितियां और नए लोग आपके सामने आ रहे हैं जो उत्प्रेरक का काम करेंगे. आपके ऊपर पड़ने वाले मामूली दबाव आपको इसके लिए प्रेरित करेंगे. चीजें पहले के मुकाबले भले ही काफी आसान हो जाएंगी, लेकिन फैसले लेने में आपको कई बार चुनौतियों का सामना करना पड़ेगा. यदि आप तटस्थ होकर खुद को देखें, तो आप पाएंगे कि आपके पास विचार तो हैं, लेकिन उन्हें लागू करने पर ध्यान दिए जाने की जरूरत है. हालांकि अनिश्चय की स्थिति में चीजों से बच निकलने की कवायद आपको मदद नहीं कर पाएगी. इसके बजाय यदि आपने अपनी गति कायम रखी, तो आप कई उपलब्धियां हासिल करेंगे. यदि आप ऐसे ही जारी रखते हैं, तो पेशे में कई अवरोध अपने आप हल हो जाएंगे. अपनी भूमिका के बारे में भी आप अपनी समझ साफ करने और जिम्मेदारी के क्षेत्र तय करने में कामयाब होंगे.

वृष
21 अप्रैल– 20 मई

आप इस सप्ताह उन क्षेत्रों के विकास पर अपना ध्यान केंद्रित करेंगे जिनमें आपकी तरक्की निहित है. आप नए संपर्क बनाएंगे और आपका संपर्क तंत्र विस्तृत होगा. इसके परिणाम स्वरूप आप नए और पुराने मामलों को नई गति देंगे. जाहर है, आपको अपने उत्साह को उन क्षेत्रों में दिशा देने की जरूरत है जो आपके लिए फायदेमंद हैं. खैर, अपनी कुशलता को बढ़ाने के लिए आपको नए अवसर प्राप्त होंगे. और सबसे अच्छी बात यह है कि आप अपनी प्राथमिकता के आधार पर चीजों को तय करेंगे. हालांकि आपको इस बारे में अपनी समझ साफ बनानी होगी कि आप नए उद्यम में अपने ऊपर कितनी जिम्मेदारी ले सकेंगे और नौकरी में संतुष्टि व वित्तीय मामलों में आप क्या नतीजे चाहते हैं. इस प्रक्रिया में आप खुद की छवि कामयाब व्यक्ति के रूप में स्थापित कर सकेंगे और नए लोग आपके साथ संपर्क बढ़ाने को बेताब होंगे. कारोबार और पैसे के मामले में अपकी आय बढ़ाने के नए साधन पैदा होंगे.

मिथुन
21 मई –20 जून

आप इस बात को महसूस करते हुए कि आने वाला समय अस्थिरता भरा है, इस सप्ताह आप में से अधिकतर लोग ज्यादा प्रेरित होकर काम करेंगे. नए कामों के हिसाब से आप अपना समय नियोजन बेहतर ढंग से करेंगे. एक ओर आप जब आप खुद को व्यवस्थित कर रहे होंगे, आप दूसरों को देखकर भी प्रेरित होंगे. आपकी महत्वाकांक्षाओं को पूरा करने के लिए आपके पास पर्याप्त ईंधन मौजूद है और आस–पड़ोस की खबरों पर नजर रख कर आप खूद को बेहतर रूप से सूचित बना सकेंगे. ऐसा करने के साथ ही आप जो इस वक्त कर रहे हैं, उसकी नब्ज़ पर भी हाथ रखना उतना ही महत्वपूर्ण होगा. आपको सामान्य तौर पर आश्वस्त किया जाता रहेगा, लेकिन यह आपका काम है कि आप जांचें कि लाभ वास्तव में हुआ है या नहीं.

कर्क
21 जून –20 जुलाई

यह महसूस करते हुए कि भविष्य असामान्य और अनपेक्षित तरीके से चुनौतीपूर्ण रहने जा रहा है, आप जटिल हालात को संभालने की अपनी कुश–लता को धार देंगे और अपने समृद्ध विचारों को काम में लाएंगे। अपने लिए इस सप्ताह आप जितनी चुनौतियां स्वीकार करेंगे, आपकी कामयाबी की संभावना एक से ज्यादा स्तरों पर उतनी ही बढ़ती जाएगी। कुछ नया हाथ में लेने से आप अपनी प्रतिभा को और धार दे सकेंगे। स्थितियों और संदर्भों के सही मूल्यांकन से आप अपने विकास की जमीन तैयार कर सकेंगे। लेकिन यह काम इतना आसान नहीं होगा जितना कि जान पड़ता है। ऐसा इसलिए क्योंकि हालात काफी तेजी से बदलेंगे और इसमें अनिश्चय बरकरार रहेगा जिससे कई बार आप खुद हैरत में पड़ जाएंगे.

सिंह
21 जुलाई –20 अगस्त

मंदी के इस दौर में आप अपनी संभावनाओं को सुधारने के लिए अपने काम पर नए तरीके से निगाह डालने को उत्प्रेरित होंगे। चीजों का दोबारा मूल्यांकन करते वक्त आप उन्हीं परिचित और उत्पादक तरीकों पर काम करते रहेंगे जिन पर करते रहे हैं। हालांकि इसका अर्थ यह नहीं कि आप अतीत से खुद को तोड़ नहीं पाएंगे और नई राह नहीं बना पाएंगे। अच्छी बात यह है कि आप एक तय समयावधि के भीतर अपने लक्ष्यों को प्राप्त कर पाएंगे और इसकी संभावनाएं औसत से कहीं ज्यादा हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि आप उन क्षेत्रों से निपटने के लिए काफी मजबूत स्थिति में हैं जो आपको परेशान किए हुए हैं। कामयाबी के लिए इतनी सार पूर्व स्थितियों के बाद आपमें सुधार साफ दिखाई देगा और आप अपनी कामयाबी का सुख भोगेंगे, लेकिन उनका दोहन भी आपको करना होगा.

कन्या
21अगस्त –20 सितंबर

इस सप्ताह आपके काम में तनाव, अनिश्चय और विलंब रहेगा. सुनने में खराब लग सकता है. लेकिन एक नजर इस पर भी डाल लें. यह असंतोष और तनाव आपको नई दिशाएं तलाशने को प्रेरित करेगा, कोई ऐसी चीज जिससे आप अपने प्रयासों को संयोजित कर सकेंगे. जब तक आप खुद अपनी बाध्यताओं और सीमाओं से बाहर निकलने का प्रयास नहीं करेंगे, आपके पंख बंधक हालात में कैद ही रहेंगे. जाहिर है, वे अवसर आपको तलाशने होंगे जिन्हें पकड़ पाना भी आपके लिए आसान हो. आपके मन में यह आशंकाएं भी होंगी ही कि आखिर आप अपने पंख कैसे फैला सकेंगे और अपने वरिष्ठों के तले अपने ज्ञान और कौशल को कैसे नए रास्तों पर ले जा सकेंगे. हालांकि इसमें कोई शक नहीं कि आप ऐसा कर पाएंगे, हालांकि इस बारे में कोई समयावधि तय नहीं की जा सकती.

तुला
21 सितंबर –20 अक्तूबर

आप इस बात को महसूस करते हुए कि आने वाला समय अस्थिरता भरा है, इस सप्ताह आप में से अधिकतर लोग ज्यादा प्रेरित होकर काम करेंगे। नए कामों के हिसाब से आप अपना समय नियोजन बेहतर ढंग से करेंगे। एक ओर आप जब आप खुद को व्यवस्थित कर रहे होंगे, आप दूसरों को देखकर भी प्रेरित होंगे। आपकी महत्वाकांक्षाओं को पूरा करने के लिए आपके पास पर्याप्त ईंधन मौजूद है और आस–पड़ोस की खबरों पर नजर रख कर आप खूद को बेहतर रूप से सूचित बना सकेंगे। ऐसा करने के साथ ही आप जो इस वक्त कर रहे हैं, उसकी नब्ज़ पर भी हाथ रखना उतना ही महत्वपूर्ण होगा. आपको सामान्य तौर पर आश्वस्त किया जाता रहेगा, लेकिन यह आपका काम है कि आप जांचें कि काम वास्तव में हुआ है या नहीं.

वृश्चिक
21 अक्तुबर –20 नवंबर

नई समझ के विकसित होने के साथ ही, इस बारे में कम ही संदेह रह जाता है कि किसी नई और अनपेक्षित स्थितियों का सामना करने की आपकी क्षमता में बढ़ोतरी होगी. इस प्रक्रिया में बहुत कुछ आपकी आंखें खोलने वाला होगा. यह बिल्कुल साफ हो जाएगा कि नए मौके– जो लाभकारी साबित हो सकते हैं– वर्तमान में आपके लिए सबसे फायदेमंद गतिविधि होगी. जल्दबाजी में किए गए फैसले, खासकर अगर वह नए प्रयास या उद्यम से संबंधित हों, बुद्धिमत्तापूर्ण बात नहीं मानी जा सकती है. आपके हित में तो यह होगा कि आप इंतजार करें और देखें की नीति को अपनाएं. हालात का विश्लेषण कर ही किसी नए प्रस्ताव पर सहमति दें. जाहिर तौर पर, सूचना और खबरों का आपके लिए खासा महत्व होगा. इसीलिए, अपने आसपास की घटनाओं के प्रति कान खुले रखें.

धनु
21 नवंबर –20 दिसंबर

जो कुछ भी नया हो रहा है, उसको अंतिम रूप देकर चमकाने और नए प्रयास करने से आपकी कुशलता बढ़ेगी. नतीजे के तौर पर, आपके अप्रत्यक्ष प्रयास नए उद्यम के साथ मिलकर आपको नई जगह में मजबूती दिल–एगी. जो भी हो, खुद के सही दिशा में होने की जानकारी के बावजूद आपको यह तय करना होगा कि आप अपने कामों के लिए सही वक्त चुनें, क्योंकि अधीरता में या देरी से किया गया काम आपको कई लाभों और फायदों से महरूम कर सकता है. कुल मिलाकर, आपके पास विकल्प बहुत ही स्पष्ट होंगे. आपको केवल यह तय करना होगा कि कौन सा रास्ता आपके लिए मुफीद है. इसी संदर्भ में एक सलाह. व्यापारिक और वित्तीय मामलों में दीर्घकालीन समझौते नए दरवाजे और रास्ते खोल सकते हैं.

मकर
21 दिसंबर –20 जनवरी

सौभाग्य से, तमाम बाधाओं और खीझ के बीच आपको इस सप्ताह अपने हाल के कुछ प्रयासों की मेहनत का मीठा फल भी मिलेगा. उदाहरण के लिए किसी प्रभावी आदमी के साथ आपका संचार आपको नए हालात से निबटने में पूरी मदद करेगा. यह बात अलग है कि आप सीधे तौर पर भले ही इस मौके का लाभ न उठा सकें. दरअसल, अपनी योजनाओं और विचारों का कार्यान्वयन आपको पूरी तरह केंद्रित कर देगा. इसका एक कारण तो यह होगा कि आप महसूस करेंगे कि कुछ मामलों में थोड़ी देर अपरिहार्य है.यह एक बुद्धिमानी से भरा और व्यावहारिक तरीका है.आपने जिन चीजों को गति दे दी है, वह आगे बढ़ती रहेगी, भले ही उनकी गति थोड़ी धीमी हो जाए. आप इस गति को और बढ़ाने में अपनी ऊर्जा लगा सकते हैं.

कुंभ
21 जनवरी –20 फरवरी

खुद को उत्साहित और ताजगी से भरा बनाए रखने के लिए, काफी समय से विचार रहे प्रस्तावों पर एक नई निगाह आवश्यक होगी. खासकर, अगर उनमें नई व्यावसायिक प्राथमिकताएं या नए लोगों के समूह के साथ काम करना शामिल हो. मजेदार बात यह होगी कि भले ही आप अपने कुछ पसंदीदा विचारों को कार्यरूप न दे सकें, पर आप अपनी कार्ययोजना बेहतर ढंग से बना सकें और समर्थन भी इकट्ठा कर सकेंगे. आप संकट से बचने के लिए वैकल्पिक तौर पर भी कुछ योजना बना सकते हैं. हालांकि आपको लोगों की असीमित अपेक्षाओं से खुद को बचाए रखने की जरूरत है, क्योंकि यह आपके फैसलों को कई बार गलत भी साबित कर सकता है. इससे बचा जा सकता है, अगर आप अपने लाभ और भूमिका पर ध्यान दें.

मीन
21 फरवरी –20 मार्च

इस सप्ताह आपके एजेंडे पर अपनी योजनाओं में कुछ आवश्यक सुधार, अपनी दृष्टि को बेहतर बनाना और अपने लक्ष्य फिर से निर्धारित करना होगा. खुशी की बात यह है कि नए मौकों का कुशलता से उपयोग कर आप अपनी स्थिति मजबूत कर सकेंगे. इससे आपको नए स्तर पर व्यक्तिगत और अर्थपूर्ण समीकरण बनाने में मदद मिलेगी. सही वक्त पर सही जगह मौजूद रहें. आपकी चुनौती जरूरत के हिसाब से नई मांग को अपनाने की है. साथ ही, आपको जो खबरें मिलेंगी, वह नए विचार और भावनाएं आपके अंदर पैदा करेंगी. ये सारी स्थितियां आपको सितारों तक पहुंचा देंगी. आप घटनाओं और परिस्थितियों को अपने फायदे के लिए मोड़ने और बढ़त बनाए रखने में सफल रहेंगे लेकिन सावधान रहने की जरूरत है.

आने वाले त्योहार

उगाडी

यह पर्व मुख्य तौर पर आंध्र प्रदेश के साथ दक्षिण भारत में मनाया जाता है. उगाडी मूल रूप से संस्कृत के युगादि शब्द से निकला है. युग का अर्थ काल होता है और आदि का मतलब आरंभ या शुरुआत होता है. हिंदू मिथकों के अनुसार यह कलियुग की शुरुआत है. कलियुग का प्रारंभ उस दिन से माना जाता है, जिस दिन श्रीकृष्ण की मृत्यु हुई. महर्षि वेदव्यास ने कहा भी है– यस्मिन कृष्णो दिवम व्यतः, तस्मात इव प्रतिपाणम कलियुगम– यानी जिस दिन कृष्ण दिव्य लोक गए, उसी दिन से कलियुग की शुरुआत हो गई. एक और हिंदू मिथक के अनुसार सृष्टिकर्ता ब्रह्मा ने इसी दिन विश्व के सृजन की शुरुआत की थी. नए काल की यह शुरुआत ही भारत के दक्षिणी इलाके के लोगों के लिए उगाडी के नाम से जानी जाती है. कर्नाटक और आंध्र प्रदेश में जहां इस त्योहार को उगाडी के नाम से जानते हैं, वहीं महाराष्ट्र में भी ठीक उसी दिन मनाया जाने वाला यह पर्व गुड़ि पर्व के नाम से जाना जाता है. इसी तरह सिंध के लोग भी इसी दिन नए साल की शुरुआत मनाते हैं, जिसे चेति चांद कहते हैं. उगाडी हरेक साल एक अलग दिन को मनाया जाता है, क्योंकि हिंदू पंचांग चांद्रसौर पंचांग है.

चांद की गति से तिथियां प्रभावित होती हैं, इसी वजह से हरेक वर्ष उगाडी की तिथि बदल जाती है. दक्षिण में लोग शक पंचांग को मानते हैं. इस पंचांग की तिथियां दक्षिण के महान राजा शालिवाहन शक के राज्यारोहण के दिन से तय होती हैं. शालिवाहन शक को गौतमीपुत्र शातकर्णी के नाम से भी जाना जाता है.

शक पंचांग की शुरुआत चैत्र के महीने से होती है और उगाडी नए वर्ष के पहले दिन के उपलक्ष्य में मनाया जाता है. उगाडी आम तौर पर मार्च–अप्रैल में पड़ती है. इस साल यह पर्व 27 मार्च को पड़ेगा. मिथक–कथाओं के अलावा इस पर्व का सामाजिक–आर्थिक महत्व भी है. दरअसल होली के रंगों के फीके पड़ने के साथ ही इस पर्व की शुरुआत फसल की शुरुआत और वसंत की रवानी का भी संकेत देती है. भारतीय परिवेश में दरअसल फसलों की कटाई और बुआई को बहाना बनाकर कई पर्व–त्योहार मनाए जाते हैं. उगाडी की ही तरह फसल की बुवाई और कटाई से संबंधित कई और भी त्योहार हैं...जैसे उत्तर भारत में फसल की कटाई को लोहड़ी के तौर पर मनाया जाता है. इस दिन लोग आग जलाकर उसमें धान की बालियों को अर्पित करते हैं. दरअसल यह नवान्न यानी नए अनाज के स्वागत और भरपूर फसल देने के लिए प्रकृति का धन्यवाद करने का एक तरीका भी है.

इसे ही तमिलनाडु में पोंगल के नाम से, बंगाल में मकर संक्रांति और असम में माघ बिहू के नाम से जानते हैं. ये सारे पर्व मकर संक्रांति के शुभ दिन ही मनाए जाते हैं. यह हरेक साल 14 जनवरी को मनाया जाता है. इस दिन कई लोग नए हुए धान को कूट कर उसके चूड़े का सेवन दही के साथ करते हैं. यह दरअसल प्रकृति के साथ भारतीय समाज के लगाव को दिखाने का भी एक मौका होता है. साथ ही, यह भारतीय समाज और मानस में खेती और प्रकृति से जुड़ाव को भी रेखांकित करता है.

इस तिथि का महत्व इसलिए भी माना जाता है, क्योंकि सूर्य की गति इस दिन से बदल जाती है. सूर्य इस तारीख से उत्तरायण हो जाता है. वैसे मूल तौर पर यह पर्व प्रकृति को धन्यवाद देने और नई फसल के आने की खुशी में मनाया जाता है.

कालाष्टमी

कालाष्टमी चैत्र महीने की पूर्णिमा के आठवें दिन मनाई जाती है. इसे महाकाल भैरवाष्टमी के नाम से भी जानते हैं. काल भैरव को काल यानी समय का देवता माना जाता है. भैरव को हिंदू धर्म में भगवान शिव का अवतार भी माना जाता है.

मिथक यह है कि भगवान शिन ने महाकालेश्वर के अवतार में भगवान ब्रह्मा (जिनको विश्व का सर्जक माना जाता है) के पांचवें सिर को काट दिया था और फिर तपस्या की थी. इसके पीछे कई कारण हमारे मिथकों में बताए जाते हैं. एक कहानी के अनुसार त्रिमूर्ति– यानी ब्रह्मा, विष्णु और महेश– के बीच इस बात को लेकर बहस हुई कि आखिर उन सबमें बड़ा कौन है. बहस के दौरान ही ब्रह्मा ने कोई ऐसी बात कह दी जिस पर नाराज़ होकर शिव ने अनायास ही अपने शरीर से भैरव को उत्पन्न कर ब्रह्मा का पांचवां सिर काटने का आदेश दिया. भैरव ने भी आदेश का पालन करते हुए ब्रह्मा का पांचवां सिर काट दिया.

शिव के इस स्वरूप को देख कर देवता और इंसान आतंकित हो गए. शिव का यह स्वरूप पापियों को दंडित करनेवाले के रूप में जाना जाता है. भैरव के हाथ में एक दंड (डंडा) होता है, जिससे वह पापियों को दंडित करते हैं.

भैरव अष्टमी का सबसे लोकप्रिय रूप हिंदू पंचांग के मार्गशीर्ष महीने में अष्टमी को मनाया जाता है. वैसे तो कलाष्टमी हरेक महीने के कृष्णपक्ष की अष्टमी तिथि को मनाई जाती है. इस दिन भक्त महाकाल और भैरव की पूजा करते हैं. मानते हैं कि काल भैरव की सवारी एक कुत्ता है और इसी वजह से कई जगहों पर इस दिन कुत्तों को खिलाते भी हैं. इस दिन शिव के भक्त सुबह–सुबह नहा कर पूजा करते हैं. उनसे अपनी सुरक्षा और समृद्धि की दुआएं मांगते हैं. मृत पूर्वजों की भी इस दिन विशेष पूजा होती है. कई भक्त रात भर जागकर इस दिन महाकालेश्वर की कहानी पर चर्चा करते हैं.

चौथी दुनिया ब्यूरो

खेल खेल में गांधीगीरी

यह दृश्य सोलहवीं सदी का है. जैक एक देश का राजा है, लेकिन वह एक टापू पर फंसा हुआ है. उसके सिपाही रास्ता नहीं जानते. वहां रहने वाली जनजातियां खासी खूंखार मानी जाती हैं. उनसे सामना होने पर जैक अपने सिपाहियों को हमला करने के लिए नहीं कहता, बल्कि शांति और सदभाव का प्रदर्शन करनेवाले हावभाव दिखाता है. ऐसे ही एक दूसरे मौके पर जनजातियों की परंपराओं का उल्लंघन होने पर जैक माफी मांग लेता है. उसका मकसद अपने सिपाहियों को किसी भी संभावित नुकसान से बचाना और उनमें मानवीय मूल्यों का विकास करना है. जैक इसके लिए गांधी, जी हां, महात्मा गांधी नाम के शख्स का शुक्रगुजार हैं.

वर्चुअल गेमिंग की दुनिया में आपका स्वागत है. यहां 'सिविलाइजेशन रिवॉल्यूशन' नाम का गेम है, जिसमें प्लेअर्स को स्टोन एज से लेकर स्पेस एज तक का सफर तय करना होता है. उन्हें खोजें करनी होती हैं, सेनाएं बनानी पड़ती हैं और कूटनीतिक कोशिशें भी करनी पड़ती हैं. गेम जीतने के चार तरीके हैं. सेना, पैसा, तकनीक या फिर सभ्यता की ताकत के जरिए. सभ्यता वाले विकल्प में गांधी के दर्शन से जुड़े कई तरीके गेम में आगे बढ़ने के लिए 'टूल' के तौर पर इस्तेमाल किए जा सकते हैं. खिलाड़ियों को गांधी जी के अहिंसा और सत्याग्रह जैसे तौर-तरीके खासे कूल और फनी लग रहे हैं. गेम खेलने वाले कई युवाओं को नहीं पता कि असल में गांधी ने भारत के लिए क्या-क्या किया, लेकिन उन्हें गेम खेलने में गांधी के अहिंसक तौर-तरीकों का काफी फायदा मिल रहा है.

इसकी सारी सीरीज खेल चुके रॉबर्ट के मुताबिक, पिछली बार मैंने गांधी के कूल तरीके अपनाए और बेहतर तरीके से अपनी सभ्यता विकसित की. मैंने लोगों को लाइब्रेरी और पीने के साफ पानी जैसी बुनियादी सुविधाएं मुहैया कराने पर संसाधन खर्च किए. वह कहता है कि हालांकि गेम में वह अब तक गांधी से नहीं मिला, लेकिन उसे लगता है कि उन्हें भी मेरे तरीके पसंद आएंगे.

चौथी दुनिया ब्यूरो

गूगल कराएगा मंगल की सैर

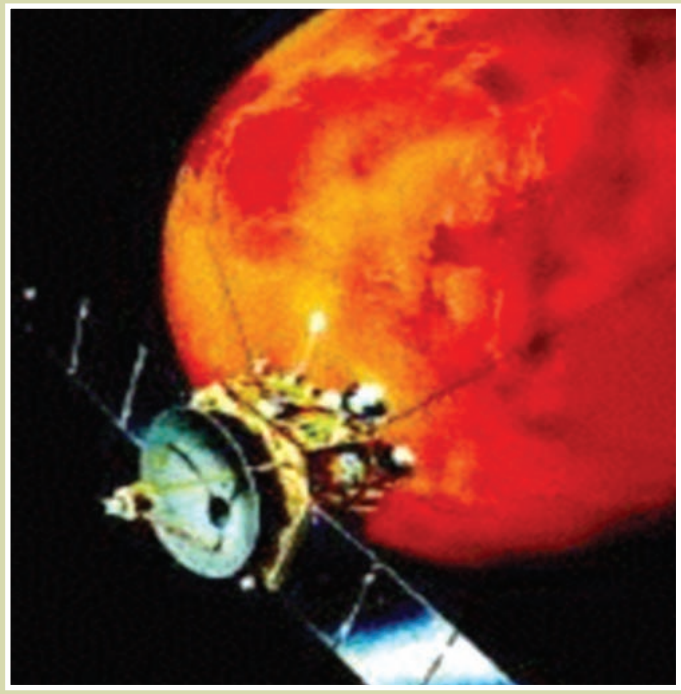

गूगल ने अपनी लोकप्रिय अप्लिकेशन गूगल अर्थ में एक नया फीचर जारी किया है. और इसके साथ ही उसमें कई नई सुविधाएं भी जोड़ दी हैं. लेकिन जिस सुविधा की सबसे अधिक चर्चा है वह है मंगल ग्रह की ताजी तस्वीरें. इसके साथ ही अब आप गूगल अर्थ में समुद्र की मैपिंग भी कर सकते है. जहां अब गूगल अर्थ के माध्यम से ना केवल जमीन, बल्कि समुद्री सतहों की भी सैर की जा सकी. गूगल अर्थ के नए संस्करण में मंगल ग्रह को खास तौर पर फोकस किया या है. इस पर मंगल ग्रह की वे सभी तस्वीरें उपलब्ध हैं, जो मंगल ग्रह का चक्कर ला रहे उपग्रहों ने ली हैं. मंल पर रोवर से ली ई एक्सक्लूसिव तस्वीरें भी अब आप गूगल अर्थ पर देख सकते हैं। नासा के अंतरिक्ष अभियानों के दौरान मंगल ग्रह की ली ई तस्वीरों का अद्भुत संग्रह भी यहां है. गूगल अर्थ में समुद्र हालांकि पहले भी दिखता था, लेकिन वह कम रिजोल्यूशन का होता था. लेकिन अब गूगल ने समुद्री सतह की उच्च रिजोल्यूशन वाली तस्वीरें समाहित की हैं और किसी किसी जगह के त्रिआयामी चित्र भी. इसके अलावा कई सारी तस्वीरें और जानकारियां भी उपलब्ध करवाई ई हैं. प्रयोक्ता अब समुद्री सतह की उच्च रिजोल्यूशन वाली तस्वीर देखने के साथ समुद्र की गहराइयों में भी झांक सकता है तथा कई उपयोगी जानकारियां प्राप्त कर सकता है.

चौथी दुनिया ब्यूरो

हरेक की चाहत- हो इक ऐसा कैमरा

कैनन आईओएस 5 डी

कैनन के ईओएस फाइव डी कैमरे ने बाजार में दस्तक दे दी है. इससे पेशेवर और शौकिया फोटोग्राफरों को बेहतरीन तस्वीरें खींचने का एक और मौका मिल गया है. 21.1 मेगापिक्सेल का यह कैमरा ईओएस तकनीक जैसे ऑटो लाइटिंग और ऑप्टिमाइजर से लैस है. इसकी वीडियो कैपेबिलिटी भी गजब की है. इस कैमरे का इस्तेमाल करने के लिए आपको बस वेट, वॉच और क्लिक करना है. ईओएस 5-डी कैमरे में 21.1 मेगा पिक्सेल और फुल फ्रेम सीएमओएस सेंसर है. इससे प्रति सेकेंड 3.9 फ्रेम की रिकॉर्डिंग की जा सकती है. फिर इसके इंटिग्रेटेड क्लीनिंग सिस्टम का तो कहना ही क्या!

चौथी दुनिया ब्यूरो

लाचार है हमारी सरकार

राजधानी दिल्ली में पब और बार में जाने वाले लगभग 80 फीसदी ग्राहक 25 साल से कम उम्र के हैं जबकि दिल्ली में शराब पीने के लिए निर्धारित उम्र 25 साल है. इस बात का खुलासा एक सर्वेक्षण में हुआ है. यह खुलासा गैर-सरकारी संगठन कैम्पेन अगेंस्ट ड्रंकन डड्डर (सीएडीडी) के सर्वेक्षण से हुआ है. बार में जाने वाले 67 फीसदी ग्राहकों की उम्र 21 साल से भी कम होती है.

दिल्ली आबकारी कानून के मुताबिक 21 वर्ष से कम उम्र के व्यक्ति के शराब खरीदने या बेचने पर प्रतिबंध है. निर्धारित उम्र से कम उम्र के व्यक्ति को शराब बेचते हुए या शराब के नशे में पकड़े जाने पर 10,000 रुपए के जुर्माने का प्रावधान है. सर्वे में इस कानून को पूरी तरह अप्रभावी बताया गया है. इसी सर्वे के मुताबिक सरकारी शराब की दुकानों, बार व पब में शराब बेचने या परोसने वाले लगभग 40 फीसदी सहायकों की उम्र 16 साल से कम है.

आपको याद दिला दें कि देश के कानून के मुताबिक बार या पब में 25 वर्ष से कम उम्र के व्यक्ति को बतौर कर्मचारी नियुक्त करना भी दंडनीय अपराध है. इसके लिए पब या बार मालिक पर 50,000 रुपए तक के जुर्माने या तीन महीने के कारावास की सजा का प्रावधान है. इसके बावजूद बार व रेस्त्रां में शराब परोस रहे लगभग 55 फीसदी लड़के-लड़कियां 25 साल से कम उम्र के हैं.

दिसम्बर 2008 से जनवरी 2009 के बीच किए गए इस सर्वे ने सरकार की सामाजिक जिम्मेदारी और उसके निर्वहन के लिए बने कानून पर सलाविया निशान लगा दिया है. इसके साथ यह सवाल भी खड़ा हो गया है कि आजादी के साठ साल बाद भी सरकार अपने ही बनाए कानून को प्रभावी क्यों नहीं बना पा रही है.

चौथी दुनिया ब्यूरो

क्यों रो रहा है आपका बच्चा

बच्चों की किलकारियां और रोना किसी भी घर के माहौल को खुशनुमा कर देता है, लेकिन इस खुशी में आप अक्सर एक चीज नहीं समझ पाते कि आखिर आपका बच्चा रो क्यों रहा है. ज्यादातर आप यही समझते हैं कि उसे भूख लगी है और उसे दूध देने की जरूरत है. दूध देनें पर भी उसका रोना नही रुकता, तब आप कुछ और अंदाजा लगाते हैं. लेकिन क्या कभी आपने इस समस्या के हल के बारे में सोचा है. शायद नहीं. बहरहाल अब आपकी जिंदगी थोड़ी आसान हो सकती है, क्योंकि बाजार में एक ऐसी मशीन है जो अंदाजा लगा सकती है कि आपका बच्चा क्यों रो रहा है.

आपको बस यह मशीन रोते हुए बच्चे के बगल में रखनी है और महज 20 सेकेंड में रोने की वजह यह मशीन बता देगी. यह मशीन बच्चे के रोने की तीव्रता माप कर आपको बताएगी कि उसे भूख लगी है या नींद आ रही है, या फिर बच्चे को दर्द वगैरह है.

अनलिमिटेड मैसेजिंग

प्रिय दीदी

आप कैसे है इस बार दिल्ली आएं तो जरुर मिलने आना.

आपकी नेहा.

क्या आप मैसेज-मैसेज खेलते हैं.

अगर आपको लगता है कि आपके मोबाइल से छोटे मैसेज ही भेजे जा सकते हैं क्योंकि आपका सर्विस प्रोवाइडर छोटे मैसेज की ही सुविधा देता है तो आपके लिए बढ़िया खबर है. जल्द ही ब्लैकबेरी की तर्ज पर अनलिमिटेड मैसेज ऑप्शन की सेवाएं शुरू होने जा रही हैं. और इसके लिए एक बार फिर आपको अपने मोबाइल फोन की क्षमता जाननी होगी क्योंकि आम तौर पर भारतीय बाजार में बिक रहे हैंड सेट शब्द सीमा के हिसाब से ही मैसेज भेजते हैं.

चौथी दुनिया ब्यूरो

राष्ट्रीय खेलों का मर्सिया

हर बैठक में कोई और फैसला हो न हो, खेलों को टालने का फैसला सर्वसम्मति से हो जाता है. मुद्दा तैयारी की कमी का है, लेकिन दरअसल राज्य की अलग-अलग आयोजन-समितिओं के बीच की आपसी खींचतान ही देरी की असली वजह है. रांची, धनबाद और जमशेदपुर के आयोजकों के बीच की रस्साकशी में एक दूसरे से सरफुटौव्वल की स्थिति बन गई है.

जिस समय बीसीसीआई के कुछ अधिकारी न्यूजीलैंड के क्रिकेट अधिकारियों को इस बात के लिए मना रहे थे कि भारत के न्यूजीलैंड दौरे पर दो के बजाय तीन टेस्ट खेलें जाएं, लगभग उसी वक्त भारतीय नेशनल गेम्स कमेटी की एक बैठक में यह फैसला लिया जा रहा था कि राष्ट्रीय खेलों को फिर से टाल दिया जाए. अलग-अलग देखें तो इन खबरों का एक-दूसरे से कोई खास रिश्ता नहीं, लेकिन ध्यान से देखें तो ये खबरें उस खाई की चौड़ाई बताती हैं जो क्रिकेट और दूसरे खेलों के बीच बन गई है. ऐसे मौके पर आम तौर पर क्रिकेट को कोसकर काम चला लिया जाता है लेकिन सवाल है कि क्या सचमुच क्रिकेट दोषी है या खुद उन खेलों की जिम्मेदारी उठाने वाले कर्णधार? जहां बीसीसीआई की पहल में खेल को बढ़ाने और उसके पेशेवर होने (भले उसके पीछे व्यावसायिक उद्देश्य जितना भी हो) की झलक दिखती है, वहीं दूसरी ओर राष्ट्रीय खेलों का मामला पूरा का पूरा लालफीताशाही और लापरवाही का तमाशा है.

यह कोई पहली बार नहीं हुआ कि राष्ट्रीय खेलों को टाला गया है. पिछले राष्ट्रीय खेल असम में 2005 में हुए थे. तय यह हुआ था कि अगले खेल झारखंड में 2007 में होंगे. तब से इन खेलों को लेकर जो खिलवाड़ शुरू हुआ है, वह थमने का नाम नहीं ले रहा. कई बार टाले जा चुके ये खेल एक-दो नहीं, पूरे बीस महीने लेट हो चुके हैं. इस बीच इनका बजट भी 350 से 700 करोड़ रुपए हो चुका है. हर बैठक में कोई और फैसला हो न हो, खेलों को टालने का फैसला सर्वसम्मति से हो जाता है. मुद्दा तैयारी की कमी का है, लेकिन दरअसल राज्य की अलग-अलग आयोजन-समितिओं के बीच की आपसी खींचतान ही देरी की असली वजह है. रांची, धनबाद और जमशेदपुर के आयोजकों के बीच की रस्साकशी में एक दूसरे से सरफुटौव्वल की स्थिति बन गई है. ऊपर से झारखंड में सरकार के लिए म्यूजिकल चेयर्स का खेल चल रहा था. शिबू सोरेन बोले कि जैसे झारखण्ड बनवाया, वैसे ही राष्ट्रीय खेल भी करा'गा. उनका यह बयान भी उन्हीं की तरह फाख्ता हो गया. शायद शिबू कहना चाहते थे कि जिस तरह झारखण्ड के लिए बरसों आंदोलन किया था, वैसे ही इन खेलों में भी बरसों लगेंगे. खैर शिबू गए और उनकी बातें भी. खेल अब भी नहीं हुए. इसमे कुछ नया भी नहीं है. जब असम में राष्ट्रीय खेलों का आयोजन हुआ था, तब भी कुछ ऐसा ही घालमेल देखने को मिला था. उस समय असम सरकार और भारतीय ओलंपिक असोसिएशन (आईओए) के बीच के भ्रम के बीच जैसे-तैसे ये खेल आयोजित हुए थे. इसके बाद अगले खेलों का जिम्मा झारखण्ड को देने के साथ-साथ यह भी तय हुआ कि 2009 में उत्तर प्रदेश खेलों की मेजबानी करेगा, लेकिन राजनीति और नौकरशाही के खेल में इन खेलों का समय जो टलना शुरू हुआ, वह अब तक चल रहा है. अब इन खेलों को जून 2009 में कराने की बात हो रही है, यानी उत्तर प्रदेश की मेजबानी पहले ही अधर में है और अब यह कहा जा रहा है कि 2010 में केरल में राष्ट्रीय खेल होंगे. यानी दो साल में दो राष्ट्रीय खेल. खैर, यह बात देखने लायक होगी कि जो असोसिएशन नियत समय पर एक खेल नहीं करा पाया, वह दो साल में दो खेल कैसे कराएगा?

बात सिर्फ एक राष्ट्रीय खेल की नहीं, हमारे खेल प्रशासकों के सोच की है. आखिर क्यों एक राष्ट्रीय खेल के लिए तैयारी करना भी इन पर भारी पड़ता है. फिर ये किस मुंह से ओलंपिक और कॉमनवेल्थ खेलों की मेज़बानी का दावा करते हैं? दिल्ली में कॉमनवेल्थ खेलों की मेज़बानी को लेकर भी कोई कम ड्रामा नहीं हुआ. मणिशंकर अय्यर का बयान शायद आपको याद हो जिसमें उन्होंने इन खेलों की मेजबानी लेने के औचित्य पर सवाल उठाया था. उस समय उनकी बड़ी आलोचना हुई, लेकिन उनकी बातों में कई बड़े सवाल थे. क्या सचमुच हम ऐसे बड़े आयोजनों के लिए तैयार हैं? क्या जैसे-तैसे आयोजन करके हम दुनिया में कोई बड़ा तीर मार लेंगे? क्या हमारे खेल प्रशासक इन जिम्मेदारियों के लिए तैयार हैं?

इन सवालों के जवाब ढूंढने ज़रूरी हैं. जब तक हम इन सवालों को निपटा नहीं लेते, झारखण्ड जैसे उदाहरण होते रहेंगे. फिलहाल तो सिर्फ़ बुनियादी सुविधाओं की बात ही हो रही है. खिलाड़ियों को तैयार करने जैसे बड़े मुद्दे तो दूर हैं और क्रिकेट से होड़ लगाना तो असंभव फिलहाल असंभव ही है.

स्तरीय खिलाड़ियों, ओलंपिक पदकों और पैसे की कमी का रोना रोने वाले खेल प्रशासकों की नक्ल कसी जानी जरूरी है. और ज़रूरत यह भी है कि हमारे खेलों के कर्णधार क्रिकेट को कोसने के अलावा किसी और बात पर भी एकजुट हों वरना ढाई कोस चलने और करोड़ों खर्च करने पर भी नतीजा वही होगा, ढाक के तीन पात.

चौथी दुनिया ब्यूरो

आंकड़ों के खेल में बाज़ार ने धोखा दिया मास्टर ब्लास्टर को

आंकड़े और रैंकिंग्स के बिना कोई भी खेल अधूरा है. किसी भी खेल का मज़ा जीत-हार और आगे निकलने की होड़ में ही तो है. बदलती रैंकिंग और टूटते रिकॉर्ड पर हर खेल प्रेमी की नज़र होती है. लेकिन सवाल है कि ये खेल के आंकड़े भर हैं या ये पूरा खेल ही आंकड़ों का है?

क्रिकेट वेबसाइट होल्डिंगविली डॉट कॉम ने महानतम भारतीय टेस्ट खिलाड़ियों की एक सूची जारी की है. राहुल द्रविड़ को अब तक का सबसे बेहतरीन टेस्ट खिलाड़ी बताने वाली इस सूची में सचिन चौथे नम्बर पर हैं तो गावस्कर दूसरे नंबर पर. सबसे बड़ा आश्चर्य है सहवाग का इन दोनों लिटिल मास्टर्स के बीच जगह बनाना. अब हंगामा तो बरपेगा ही. इससे पहले आईसीसी की महानतम खिलाड़ियों की रैंकिंग पर पहले ही धमाल हो चुका है. रिकॉर्ड, आंकड़े और रैंकिंग के बिना कोई भी खेल अधूरा है. किसी भी खेल का मज़ा जीत-हार और आगे निकलने की होड़ में ही तो है. बदलती रैंकिंगऔर टूटते रिकॉर्ड पर हर खेल प्रेमी की नज़र होती है. लेकिन सवाल है कि ये खेल के आंकड़े भर हैं या ये पूरा खेल ही आंकड़ों का है?

हाल के दिनों में रैंकिंग और खेल के इसी सवाल पर जमकर माथापच्ची हुई है. पिछले दिनों जब आईसीसी की ऑल टाइम ग्रेट लिस्ट आई, तो सबसे अधिक आलोचना हुई भारत में. यहां सबसे समस्या थी सचिन को लेकर. सचिन को टेस्ट बल्लेबाजों में 26वां स्थान दिए जाने ने इसकी विश्वसनीयता पर ही सवाल खड़े कर दिए. जिस खिलाड़ी को खुद डॉन ब्रैडमैन ने अपने जैसा कहा था, उसे दुनिया के 25 खिलाड़ियों से नीचे रखना हास्यास्पद था. भारत के क्रिकेट प्रेमियों और पुराने दिग्गजों के लिए ऐसी रैंकिंग समझ से परे थी जो हेडेन को सचिन और लारा से ऊपर रखती हो. सिर्फ भारत के नहीं पूरी दुनिया के क्रिकेटरों ने इस रैंकिंग की जमकर खिंचाई की. कहा गया कि एक बच्चा भी एक कैलकुलेटर और आंकड़े लेकर आईसीसी से बेहतर काम कर सकता था. आईसीसी ने भले ही स्पष्टीकरण देकर पल्ला झाड़ने की कोशिश की, लेकिन इस लिस्ट ने सालों पुराने रैंकिंग और महानता के विवाद को फिर जिंदा कर दिया.

इतना तो तय है कि भारत में सचिन के लाखों-करोड़ों प्रशंसकों होल्डिंगविली की नई रैंकिंग पसंद नहीं आने वाली और ना ही कुछ क्रिकेट पंडितों को. इस लिस्ट में आईसीसी से अलग तरीका अपनाया गया है- आईसीसी की लिस्ट में सबसे बेहतरीन रैंकिंग को पैमाना बनाया गया था, यहां निरंतरता, देश के बाहर के प्रदर्शन और मैच जिताऊ क्षमता जैसी बातों को अहमियत दी गई थी. इसमें भी कोई शक नहीं कि द्रविड़ और सहवाग बेहतरीन और मैच जिताऊ खिलाड़ी हैं. लेकिन सचिन का मामला जरा अलग है और यहीं, आंकड़ों और महानता का सवाल खड़ा होता है.

दरअसल सचिन जैसे महान खिलाड़ियों को केवल औसतों और स्ट्राइक रेट के आधार पर नहीं आंका जा सकता. जब इस तरह की रैंकिंग तैयार होती है, तो अलग- अलग तरह के पैमाने होते हैं, लेकिन कई ऐसी बातें हैं जो आंकड़े नहीं बोलते. जब सचिन ने क्रिकेट में शुरुआत की थी, तो टीम इंडिया की क्या हालत थी, कितने ही मैचों में हमने सचिन को अकेले जूझते देखा है. सचिन की कई महान पारियां भले बर्बाद हो गईं, लेकिन उनकी महानता पर कोई सवाल नहीं है. मौजूदा दौर के किसी भी खिलाड़ी से लंबा करियर होने पर भी सचिन का औसत बेहतरीन रहा है. औसत के आधार पर सचिन को किसी से भी उन्नीस ठहराते वक्त बीस साल से लंबे समय पर भी ध्यान देना ज़रूरी है. दरअसल, सचिन का मामला भावनाओं का भी है. सचिन जब खेलने उतरते हैं तो उनके साथ भावनाओं का सैलाब और उससे जुड़ा दबाव भी होता है. सचिन जब भी मैदान में होते हैं, तो एक चमत्कार की उम्मीद उनके साथ जुड़ी होती है. सचिन अगर शतक से कम पर आउट हों तो उसे भी खराब प्रदर्शन माना जाता है. जितने दबाव में सचिन खेलते हैं,बड़े से बड़ा खिलाड़ी भी उसमें टूट सकता है. ये सब बातें ही सचिन को महान बनती हैं. दरअसल, कोई भी रैंकिंग इन बातों को नहीं माप सकती. कोई भी रैंकिंग उन उम्मीदों को तौल नहीं सकती जिनकी धार पर महानता निखरती है. बेहतर होगा महानता का पैमाना खेल प्रेमियों को तय करने दिया जाए, किसी गणितज्ञ को नहीं

चौथी दुनिया ब्यूरो

अराजकता का पुनर्लेखन

टेक वन:- एक दशक पहले की फिल्म दिल से. नायक शाहरुख (फिर से दिल्ली वाला) की शादी तय हो रही है. वह नायिका प्रीति से मिलता है. छत पर बर्गर खाते-खाते वह पूछती है- तुमने कभी हौंको-बौंको किया है. हौंको-बौंको बोले तो इशारों में सेक्स की बात. शाहरुख के मुंह से बर्गर गिरने को होता है.

टेक टू:-साल 2009.फिल्म देव-डी.नायक अभय देओल, किसी शादी में एक लड़की से मिलता है. कार पर घुमाने ले जाता है. रास्ते में वह पूछती है-क्या तुमने अपनी प्रेमिका के साथ किया है. देओल पूछते हैं, क्या.लड़की बोलती है-एस ई एक्स, यानी सेक्स.

यह भारतीय सिनेमा का नया अंदाज और नया दौर है. हाल ही में आई देव-डी स्थापित प्रतिमानों और फार्मूलों को बिल्कुल नए अंदाज में तोड़ती है. अनुराग कश्यप न केवल फॉर्मूलों को तोड़ते हैं, बल्कि उन्हें अपने तरीके से गढ़ते, गूंथते और मांजते भी हैं.शरच्चंद्र की आत्मा माफ करे, अनुराग ने उनके किरदारों को बिल्कुल ही उत्तर-आधुनिक तरीके से दिखाने का साहस किया है. फिल्म का देव कहीं से भी अगर सहगल, दिलीप कुमार या शाहरुख से मिलता है, तो केवल अपनी आत्मनाशी प्रवृत्ति में. हालांकि वह स्थापित वर्जनाओं को बिल्कुल नहीं मानता.वह पूरी तरह से उत्तर-आधुनिक है. पिता को नाम से बुलाता है, अपनी बचपन की प्रेमिका की नग्न तस्वीर इंटरनेट पर मंगाता है और वोदका को थम्स-अप में मिलाकर पीता है.

अनुराग की पारो और चंदा भी किसी नैतिक-अनैतिक विवाद से दूर हैं.पारो अपना सब कुछ देव को सौंपना चाहती है, लेकिन उसके अंदर की नारी से किसी तरह का समझौता नहीं करती. वह अगर नायक के साथ शारीरिक संबंध बनाने के लिए मुंह अंधेरे ही साइकिल के पीछे बिछावन बांध कर ले जाती है, तो देओल के शक जाहिर करने पर उसे मुंहतोड़ जवाब भी देती है

चंदा कहती है- सारे देश ने उसे डाउनलोड कर देखा, बट नाउ दे कॉल मी स्लट. इसी तरह जब देओल नशे में धुत्त होकर पहली बार उसके अड्डे पर पहुंचता है, तो वह पूछती है- तो तुम क्या कहना चाहते हो मुझे. एस्कॉर्ट. रंडी कहना आजकल आउट ऑफ फैशन हो गया है.

(फेमिनिस्ट!). इतना ही नहीं, फिल्म की चंदा कॉलेज जाने वाली एक मासूम लड़की है, जो दिन में पढ़ाई करती है और रात में कॉलगर्ल का काम. वह एक अश्लील एमएमएस के उजागर हो जाने के बाद अपनी मर्जी से इस धंधे में आती है, जब उसका परिवार और साथी उसे अकेला छोड़ देते हैं.

अनुराग कश्यप लीक छोड़कर चलनेवालों में हैं. वह दायरों में नहीं बंधते, बल्कि खुद अपनी परिधि तय करते हैं. उनकी पहले की तीनों फिल्में भी इसी सच को दिखाती हैं.चाहे वह ब्लैक फ्राइडे हो, पांच (जो कभी बॉक्स ऑफिस का मुंह नहीं देख सकी) या नो स्मोकिंग. अनुराग न केवल कथ्य, बल्कि प्रस्तुति के लिहाज से भी सीमाओं-दायरों को तोड़ते चलते हैं. वह फिल्म कुछ इस तरह से बनाते हैं, मानों रंगों से भरी बाल्टी लेकर बैठे हों और परदे को सराबोर करना चाहते हैं. हालांकि रंगों से उनका प्यार बिल्कुल अलग किस्म का है. या तो वह अपना हरेक फ्रेम गहरे नीले या गुलाबी पृष्ठभूमि में रचते हैं, या बिल्कुल ब्लैक एंड ह्वाइट हो जाते हैं. इसके पीछे उनकी क्या मानसिकता हो सकती है, इसे समझना मुश्किल नहीं.वह मूल रूप से ऑन द एज जीने वाले हैं. कई बार तो रंगों का यह घालमेल अश्लील की हद तक हो जाता है. दर्शकों की आंख में चुभने लगता है.

अनुराग की इस फिल्म को आप प्यार करें, या नफरत. एक बात तय है, आप उनको नजरअंदाज़ नहीं कर सकते. वह इस बार अपनी पूरी ठसक और धमक के साथ आए हैं. फिल्म के संवाद भी खतरनाक की हद तक साहसिक हैं, जो इसके पहले की फिल्मों में सुनने को नहीं मिलते थे. सोचने की बात है कि सेंसर बोर्ड में बैठे हमारे तथाकथित मोरल गार्जियंस ने इसको कैसे रहने दिया. बानगी के लिए, चंदा कहती है- सारे देश ने उसे डाउनलोड कर देखा, बट नाउ दे कॉल मी स्लट. इसी तरह जब देओल नशे में धुत्त होकर पहली बार उसके अड्डे पर पहुंचता है, तो वह पूछती है- तो तुम क्या कहना चाहते हो मुझे. एस्कॉर्ट. रंडी कहना आजकल आउट ऑफ फैशन हो गया है न.

अनुराग की फिल्म कई मायनों में अलग है. संवाद, गीत, छायांकन या नृत्य-संयोजन हो. कुछ भी हो, वह दीवारों को तोड़ते और ढहाते हैं. फिल्म का नायक हमेशा की तरह एक करोड़पति बाप का बेटा है, जिसके आत्मनाशी होने की तमाम संभावनाएं मौजूद हैं. यहां वह देवदास ही है, जो जमींदार होने की वजह से रोटी और कपड़े की कमी से तो जूझता है ही नहीं. अपनी गलती से खोए हुए

प्यार को पाने की जद्दोजहद भी नहीं करता. बस खुद को शराब में गर्क कर लेता है. हमारे समाज में यह विलासिता केवल कुछ लोग ही कर सकते हैं. यहीं अनुराग भी शरच्चंद्र की कतार में खड़े हो जाते हैं. हालांकि एक मायने में फिर वह रवायत को तोड़ते हैं. उनका देव पारो के पास जाने की जगह या खून उगलकर मरने के बजाय चंदा के पास चला जाता है.

अनुराग दरअसल चीजों को तोड़ कर दोबारा उन्हें अपने अराजक ढांचे में निर्मित करते हैं. वह देवदास को पुराने फ्रेम से निकाल कर नई ज़मीन पर खड़ा करते हैं. कहें तो उसे सिर के बल खड़ा कर देते हैं. वह पछताता तो है, लेकिन पूरी अकड़ के साथ.साथ ही एक रास्ता भी निकालता है. हालांकि उत्तर-आधुनिक होते हुए भी अनुराग अपनी विरासत से हट नहीं पाते. उनका नायक वही भारतीय मर्द है, जो खुद तो किसी के साथ भी सोने की स्वतंत्रता चाहता है, लेकिन अपनी बीवी उसे चैस्टिटी बेल्ट के साथ ही चाहिए.वह शंका से घिरा एक ऐसा कमजोर इंसान है, जो निराधार ही अपनी प्रेमिका के पैशन को नामंजूर करता है, फिर वोदका में उसे डुबोने की कोशिश करता है.वह पहली मुलाकात में किसी लड़की के साथ सोने की तैयारी तो करता है, लेकिन ऐन मौके पर उसकी टांगें जवाब दे जाती है. शायद उसका मेल-ईगो नारी के इस बढ़े कदम को बर्दाश्त नहीं कर पाता. वह रात में दो बजे अपनी प्रेमिका को फोन करने की (जिसे उसका पति उठाता है) हिमाकत तो करता है, लेकिन कुछ बुनियादी सवालों का जवाब देने से कतराता है.

पुरातन और नए के इस घालमेल के बीच अनुराग तयशुदा तौर पर अपनी लाइन तय नहीं कर पाते, या कहें कि कम-से-कम उसे दिखा नहीं पाते. लेकिन वह पुराने कथ्य को तोड़-मरोड़ कर जो कुछ भी नया रचते हैं, वह तमाम पुराने संस्करणों पर बहुत भारी पड़ता है

चौथी दुनिया ब्यूरो

ऑस्कर भी जीता,

स्लमडॉग मिलिनेयर को मिले आठ पुरस्कार

जय हो. आखिरकार हमने आखिरी किला भी तोड़ ही दिया. आखिरी बाधा भी पार कर ही ली. ऑस्कर अपनी झोली में डालकर हमने कई पूर्वाग्रहों और मान्यताओं को ध्वस्त कर दिया. स्लमडॉग मिलिनेयर ऑस्कर पुरस्कारों में छा गई. फिल्म ने कुल मिलाकर आठ वर्गों में ऑस्कर पुरस्कार जीता. वर्षों के इंतजार के बाद आखिरकार भारत का परचम ऑस्कर अवार्ड समारोह के मंच पर छा गया. लॉस एंजेल्स के कोडैक थिएटर में चल रहे 81वें ऑस्कर अवॉर्ड समारोह की शाम को फिल्म स्लमडॉग मिलिनेयर ने आठ ऑस्कर अवॉर्ड जीतकर अपनी श्रेष्ठता साबित कर दी.

स्लमडॉग मिलिनेयर की पृष्ठभूमि भारत की है. कहें तो सब कुछ ही भारत का है. अभिनेताओं से लेकर संगीत निर्देशक तक. सहायक निर्देशक से लेकर बाल-कलाकार तक. साउंड एडीटर से लेकर पटकथा लेखक तक. मुंबई की झुग्गियों की कहानी को दर्शाती फ़िल्म स्लमडॉग मिलिनेयर को सर्वश्रेष्ठ निर्देशक, फ़िल्म संपादन, साउंड मिक्सिंग, रुपांतरित पटकथा और सिनेमेटोग्राफ़ी के लिए ऑस्कर से नवाजा गया है. भारत के संगीतकार अल्लारक्खा रहमान का जीतना हमारे लिए सबसे अहम रहा. रहमान को संगीत के लिए ऑस्कर पुरस्कार मिला. रहमान और गु-लजार को संयुक्त रूप से भी बेस्ट ओरिजनल स्कोर जय हो के लिए एक और ऑस्कर मिला. भारतीय फ़िल्मों के इतिहास में पहली बार किसी भारतीय को ऑस्कर मिले हैं. वह भी एक नही बल्कि दो. इसी फिल्म के लिए भारत के रसेल पोकुट्टी को भी साउंड मिक्सिंग में ऑस्कर मिला.

स्लमडॉग मिलिनेयर ने क्यूरियस केस ऑफ बेंजमिन... को जबरदस्त टक्कर दी. 13 नामांकनो के बाद बेंजामिन... को सिर्फ 3 ऑस्कर मिले, जबकि स्लमडॉग मिलिनेयर को 10 नामांकन के बाद 8 अवॉर्ड मिले. इससे पहले भारत की भानु अथैया को गांधी फ़िल्म की वेशभूषा के लिए ऑस्कर मिला था जबकि सत्यजीत रे को लाइफटाइम एचीवमेंट के लिए ऑस्कर दिया गया था. भारतीयों के लिए खुशी की बात यह भी है कि यहां की पृष्ठभूमि पर बनी फिल्म 'स्माइल पिंकी' को डॉक्युमेंटरी फिल्म का पुरस्कार मिला है. स्लमडॉग मिलिनेयर को इससे पहले बाफ्टा समारोह में भी सर्वश्रेष्ठ फिल्म, सर्वश्रेष्ठ निर्देशक और अन्य पांच श्रेणियों के लिए नवाजा गया था. ए. आर. रहमान के संगीत का जादू बाफ्टा अवार्ड में भी छाया रहा था. गोल्डन ग्लोब पुरस्कारों में भी स्लमडॉग मिलियनेयर ने दस से अधिक पुरस्कार जीत कर अपनी कामयाबी का इतिहास रचा था.

चौथी दुनिया ब्यूरो

भावना आहत होने का खेल !!!

बादशाह शाहरुख खान की हाल ही में रिलीज हुई फिल्म बिल्लू बारबर के टाइटल से कुछ समूहों की भावनाएं आहत हुईं. सैलून एंड पार्लर असोसिएशन के नुमाइंदों ने फिल्म के विरोध में कमर कस ली. उनके मुताबिक इस फिल्म के टाइटल से जाति की बू आती है और इससे भावनाएं आहत होंती हैं. तुरंत बाद शाहरुख का बयान आ गया. इसमें किंग खान ने बारबर शब्द का अर्थ जानने और इसके जातिसूचक होने से अपनी अनभिज्ञता जताई. माधुरी की कमबैक फिल्म-आजा नच ले भी विवादित हुई थी. उस फिल्म के गाने की एक पंक्ति-बोले मोची भी खुद को सुनार है- पर भी भाई लोगों ने बवाल किया. कई महीनों तक बजाने के बाद गाने से उस लाइन को निकाल दिया गया. मंगल पांडे के समय केतन मेहता ने यही किया. इसी तरह राकेश मेहरा की रंग दे बसंती को एनिमल राइट्स वालों और सेना के कुछ अधिकारियों के बहाने विवादित किया गया.

स्वदेश से जले आशुतोष गोवारीकर ने जोधा-अकबर के मामले में यही किया.

मधुर भंडारकर भी इस बीमारी से अछूते नहीं रहे. अपनी फिल्म फैशन में उन्होंने ड्रेस-मालफंक्शनिंग का एक दृश्य डाल दिया. फिल्म गरम हो गई और खूब चली.

चौथी दुनिया ब्यूरो